जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापुर

(हिंदी विभाग - पुष्प ५०)

मराठी जैन साहित्य और संस्कृति

लेखक

प्रोफेसर भागचन्द जैन भास्कर

प्रकाशक

जैन संस्कृति संरक्षक संघ

४१०, दक्षिण कसबा,
सोलापुर - ७

वीर संवत २५३२ मूल्य ६०/- रु ई. सन २००६

प्रकाशकीय निवेदन

प्राचीन मराठी जैन ग्रन्थ साहित्य तथा ग्रन्थों का यह संशोधनात्मक लेखन जैन संस्कृति के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' ने अत्यन्त सुन्दर प्रकार से प्रस्तुत किया है । हिन्दी भाषा में इस प्रकार के प्रकाशन की महती आवश्यकता का अनुभव हो रहा था । वह आज पूर्ण हो रही है । मराठी जैन साहित्य और साहित्यकारों के योगदान से इतर भाषाओं के विद्वान परिचित हो सकें, इस प्रमुख उद्देश्य से हम इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर रहे हैं। आशा है, इस प्रकाशन से हिन्दी भाषी पाठक और साहित्यकार लाभान्वित होंगे।

डॉ. जैन साहेब ने अपना यह संशोधनात्मक ग्रन्थ प्रकाशनार्थ हमारे संस्थान के लिए दिया, एतदर्थ हम उनके आभारी हैं । इस प्रकाशन के निमित्त प्रत्यक्ष–परोक्ष, ज्ञात–अज्ञात व्यक्तियों के सहयोग के प्रति भी हम कृतज्ञता व्यक्त करते हैं ।

रतनचंद सखाराम शहा
मंत्री

आद्यमिताक्षर

महाराष्ट्र प्रारम्भ से ही जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त ने दक्षिण की यात्रा महाराष्ट्र से कूचकर ही की थी। इतने बडे जैन मुनिसंघ के साथ की गई यात्रा इतना तो कह ही देती है कि दक्षिणवर्ती समूचा प्रदेश प्रारम्भ काल में जैन संस्कृतिमय था। खारवेल से लेकर आन्ध्र –सातवाहन, राष्ट्रकूट, चालुक्य, पाण्ड्य, गंग आदि लगभग सभी राजाओं और सामन्तों ने जैनधर्म को प्रश्रय दिया है। इसलिए इस क्षेत्र में जैन साहित्य और संस्कृति की लोकप्रियता बहुत रही है। मराठी सन्तों पर भी जैनधर्म का प्रभाव इसी लोकप्रियता का प्रतिफल है।

आश्चर्य यह है कि इसके बावजूद मराठी जैन साहित्य का प्रारम्भ काफी बाद में हुआ। लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले मराठी को जैनाचार्यों ने अपनी साहित्यिक भाषा बनाना आवश्यक नहीं समझा। कारण जो भी रहे हों, पर इतना अवश्य है कि 10–11वीं शताब्दी के बाद महाराष्ट्र में जैनधर्म को कड़े संघर्षों का सामना करना पडा। उन संघर्षों से जूझते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखना अधिक आवश्यक था। ऐसी स्थिति में समाज का टूटना, कमजोर होना अस्वाभाविक नहीं है।

मराठी जैन साहित्य 15वीं शताब्दी के बाद काफी पल्लवित हुआ है । डॉ. सुभाष अक्कोले, विद्याधर जोहरापुरकर आदि जैसे अभ्यासी विद्वानों ने प्राचीन मराठी जैन साहित्य पर अच्छा कार्य किया है। डॉ. अक्कोले का तो इस विषय पर सुन्दर पीएच.डी. शोध प्रबन्ध ही प्रकाशित हुआ है। मैंने उनका आधार लेकर प्राचीन मराठी जैन साहित्य वाला भाग आलेखित किया है। साथ ही सन्मति, जैन बोधक आदि पत्रिकाओं का भी यथायोग्य उपयोग किया है। तदर्थ मैं उन सभी अध्येताओं का आभारी हूँ।

काका रतनचन्द्रजी शहा एक लम्बे समय से सामाजिक सेवा में अपना जीवन समर्पित किए हुए हैं। जैन संस्कृति संरक्षक संघ ने उन्हीं के निर्देशन में इतना सारा साहित्य हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी भाषाओं में प्रकाशित कर दिया है। लगता है, काकाजी श्रेष्ठी ही नहीं, साहित्यकार भी हैं। साहित्यकार मात्र लेखन से ही नहीं होता, बल्कि उसे भी साहित्यकार कहा जा सकता है, जिसमें साहित्य समझने की शक्ति और प्रतिभा होती है। काका साहब कुशल अध्येता हैं और अध्येताओं को तैयार करनेवाले भी हैं। प्रस्तुत पुस्तक को उन्होंने आद्योपान्त पढा और अनेक उपयोगी सुझाव देकर मुझे स्नेहिल सहयोग दिया। तदर्थ लेखक उनका आभारी है।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन काका साहब जैन संस्कृति संरक्षक संघ की ओर से कर रहे हैं यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। हम इस सहृदयता के लिए भी उनके कृतज्ञ हैं। आशा है, संशोधकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रो. भागचन्द्र जैन
संयुक्त निदेशक
राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान
श्रवणवेलगोला (हासन) कर्नाटक

'तुलसी छाया',
तुकाराम चाल,
सदर, नागपुर – 440001
दिनांक 19–8–2005
रक्षाबन्धन पर्व
फोन. नं. 0712–2541726

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिवर्त :

प्राचीन मराठी जैन साहित्य १-१०

अपभ्रंश और मराठी (१), महाराष्ट्र और जैनधर्म (३), मराठी जैन साहित्य का वैशिष्ट्य (५), मराठी जैन साहित्य का युगीन विभाजन (६), आदिकालीन मराठी जैन साहित्य (६), मराठी साहित्य और जैन मराठी साहित्यकार (८) ।

द्वितीय परिवर्त :

मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्य ११-४५

१५ वीं शती के साहित्यकार ११

ब्रह्म गुणदास (११), गुणकीर्ति (१२), जिनदास (१४)

१६ वीं शती के साहित्यकार १५

पण्डित मेघराज (१५), कामराज (१७), पण्डित सूरिजन (१८), नागो आया (१९), गुणनंदी (२०)

१७ वीं शती के साहित्यकार २०

अभयकीर्ति (२०), वीरदास (पासकीर्ति) (२१), दामा पण्डित (२१), भानुकीर्ति (२२), दयासागर (२२), चिमना पण्डित (२३), ब्रह्म पुण्यसागर (२४), विशालकीर्ति (२४), पंत सावाजी (२५), विशाल कीर्ति (२५), पद्मकीर्ति (२५),

मल्लाजी-पुत्र राय (२६), रत्नसा (२६), गंगादास (२६), महीचन्द्र (२६), महाकीर्ति (२७) अन्य कवि (२७) ।

१८ वीं शती के साहित्यकार २८

देवेन्द्रकीर्ति (२९), छत्रसेन (ई. सन् १७०३) (३०), सटवा (ई. सन् १७१८) (३१), नीवा (३२), यादवसुत (सन् १७१८) (३२), माणिकनंदी (सन् १७२४) (३२), जिनसागर (ई. सन् १७२४-१७४४) (३२), लक्ष्मीचन्द्र (सन् १७२८) (३४), अर्जुनसुत-सोयरा (सन् १७४६) और सया (सन् १७३८) (३४), तानूपण्डित (सन् १७५१ के बाद) (३५), यमासा अर्जुनसुत (ई. सन् १७५१) (३५), रतनसा (ई. सन् १७६९) और न्याहाल (३६), दिनासा (ई. सन् १७७०) (३६), वृषभ (३६), राघव (ई. सन्. १७७०-१८३५) (३७), अनंतकीर्ति (ई. सन् १७७५) (३७), जनार्दन (ई. सन् १७७५) (३८), भीमचन्द्र (ई. सन् १७८१) (३८)

१९ वीं शती के साहित्यकार (पूर्वार्द्ध) ३९

महति सागर (जन्म ई. सन् १७७२) (३९), दयासागर (सन् १८१३) द्वितीय (४०), रत्नकीर्ति (सन् १८१३) (४१), चन्द्रकीर्ति (सन् १८१६) (४१), नागेन्द्रकीर्ति (४१), जिनसेन (सन् १८२१) (४२), दिलसुख (सन् १८२३) (४३), माणिक और लक्ष्मीसेन-शिष्य (४३), गिरिसुत (ठकाप्पा) सन् १८५० (४३), सोमवंशी तुकुजी (४३), कवीन्द्र सेवक (४४), बोप (४४), देवेन्द्रकीर्ति-शिष्य (४४)

तृतीय परिवर्त :

आधुनिक जैन मराठी साहित्य ४६-११७

आधुनिक मराठी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि (४८), बीसवीं शताब्दी के मराठी जैन साहित्यकार (५१), बाबा दुलीचंद (५६), पण्डित देवकीनन्दन शास्त्री (५७), सेठ हीराचंद नेमचन्द दोशी (५८), पण्डित कल्लाप्पा निटवे(५९),

तात्या साहेब केशवरा चोपडे (६०), अण्णा साहेब लट्ठे (६१), बाबगोंडा भुजगोंडा पाटिल (६२), दत्तात्रय भिमाणी रणदिवे (६३), नेमचन्द और गणपतराव चवडे (६५), कृष्णाजी नारायण जोशी (६५), नाना रामचन्द्र नाग (६५), अप्पा भाऊ मगदूम (६६), आचार्य समन्तभद्र महाराज (६६), सेठ रावजी नेमचन्द शहा (६८), पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले (६९), भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (७०), ऐलक चन्द्रसागर (७१), डॉ. हीरालाल जैन (७१), डॉ. ए. एन. उपाध्ये (७२), आचार्य आर्यनन्दी महाराज (७५), पण्डित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री (७६), तात्याराव नेमिनाथ पांगळ (७७), पण्डित तेजपाल काला (७७), आचार्य आनन्दऋषिजी महाराज (७८), जीवराज गौतमचन्द दोशी (७९), धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी (८०), शान्तिनाथ यशवन्त नान्द्रे (८१), पण्डित दरबारीलाल सत्यभक्त (८१), ब्र. माणिकचंद चवरे (८२), माणिकचंद भिसीकर (८४), भिसीकर गुरुजी, ब्र. मोहोलकर गुरुजी (८६), पण्डित नाथूराम प्रेमी (८७), मोतीचंद गांधी अज्ञात (८८), डॉ. विलास संघवे (९१), स्वस्तिश्री लक्ष्मीसेन भट्टारक (९२), डॉ. विद्या-धर जोहरापुरकर (९३), मुनि जयकीर्ति महाराज (९५), पण्डित नेमचंद धन्नुसा डोणगांवकर (९५), पण्डित धन्यकुमार भोरे (९६), डॉ. सुभाषचंद्र अक्कोले (९६), प्राचार्य विद्याधर उमाठे (९७), प्राचार्य सुमेरूचन्द्र जैन (९८), श्रेणिक अन्नदाते (९९), मनोहर गणपतराव मारवडकर (९९), मुनि वीरसागर महाराज (१००), डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर (१०१), निर्मलकुमार फडकुले (१०३), अन्य मराठी जैन साहित्यकार (१०३) ।

कंकुबाई (१०७), सोनाबाई जिंतूरकर (१०८), पण्डित सुमतीबाई शहा (१०८), वासन्ती शहा (१०८), स्व. लीलावती जैन (१०९), लीलावती जैन (१०९), विद्युल्लता शहा (१०९), इन्दुमती आबाडे इचलंकर (११०), डॉ. प्रमिला (१११),

डॉ. पद्मा किल्लेदार (१११), क्षुल्लिका विशालमति (११२), सुरेखा शहा (११३), डॉ. पुष्पलता जैन (११३), डॉ. कुसुम पटोरिया (११४), कुमुदिनीबाई (११५), सरयू ताई (११५), हेमलता जोहरापुरकर (११५), अन्य विदुषी लेखिकाएं (११६)

चतुर्थ परिवर्त :

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ **११८-१५४**

१) तत्त्वज्ञान (११८), २) भट्टारक परम्परा (११८), सेनगण (१२०), बलात्कारगण (१२०), ३) ऐतिहासिक सन्दर्भ (१२०), ४) सामाजिक सन्दर्भ (१२४), ५) आचार्य परम्परा (१२७), ६) महाराष्ट्र में जैन कला और संस्कृति (१२८), कर्नाटक प्रान्त से सम्बन्ध (१५१) ।

प्रथम परिवर्त

प्राचीन मराठी जैन साहित्य

अपभ्रंश और मराठी

मराठी भाषा का सम्बन्ध महाराष्ट्री अपभ्रंश से है। यह भाषावैज्ञानिक तथ्य है कि प्रादेशिक प्राकृत–अपभ्रंश भाषाओं से हिन्दी, गुजराती, बंगला और मराठी भाषाओं का जन्म हुआ है। इस दृष्टि से मराठी भाषा की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि में महाराष्ट्री अपभ्रंश भाषा रही है। इसके साथ ही संस्कृत का भी जबर्दस्त प्रभाव उस पर पडा है। महाराष्ट्री अपभ्रंश और संस्कृत की गोद में पलकर मराठी का विकास हुआ है। जैनाचार्यों ने यद्यपि इस विषय में कुछ भी नहीं कहा, पर भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त इस तथ्य को उद्घाटित करते हैं। देशी मराठी पर तो विशेषरूप से अपभ्रंश का प्रभाव दिखाई देता है। तत्सम शब्दों की ओर दृष्टिपात करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है।

आचार्य पुष्पदन्त (10 वीं शती) अपभ्रंश के शीर्षस्थ कवि हुए हैं । राष्ट्र–कूट काल में रहकर उन्होंने महापुराण णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ जैसे महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश काव्यों की रचना की है। उनकी अपभ्रंश को देखकर कतिपय विद्वानों ने तो उसे राष्ट्रकूट कालीन मराठी की संज्ञा दे डाली। यह भी कहा जाता है कि उनके पुत्र श्रीपति ने 'ज्योतिषरत्नमाला' ग्रन्थ की रचना की जो मराठी का आद्यग्रन्थ माना जाता है। पुष्पदन्त के ग्रन्थों के अतिरिक्त कनकामर का करकंडचरिउ (ई. सन् 1065) धनपाल की भविसयत्तकहा, जोइन्दु का परमप्पयासु और रामसिंह का पाहुडदोहा भी मराठी भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

महाराष्ट्री अपभ्रंश लगभग 15वीं शती तक साहित्यिक भाषा रही है। जबकि मराठी भाषा का विवेकसिन्धु जैसा प्रौढ ग्रन्थ 11वीं शती में निर्मित हो चुका था। आश्चर्य की बात तो यह है कि जैन ग्रन्थकारों का ध्यान 15वीं शती तक मराठी भाषा में ग्रन्थ लिखने की ओर गया ही नहीं। इसके पीछे निम्न कारण हो सकते हैं –

1. महाराष्ट्र में राष्ट्रकूट राजाओं का पराभव होने पर मान्यखेट का वैभव ध्वस्त हो गया और जैनधर्म का राज्याश्रय समाप्तप्राय दिखाई देने लगा। कारंजा में 14वीं शती में भट्टारक गद्दी की स्थापना हुई जिससे जैन समाज में नई चेतना जागृत हुई, और मराठी जैन साहित्य के निर्माण की ओर कदम आगे बढे।

2. दक्षिण में कोल्हापुर, बेलगाम आदि भागों में जैन समाज संख्या में अधिक होने के बावजूद जैन साहित्यकारों ने मराठी के स्थान पर कन्नड को अधिक उपयुक्त समझा।

3. राजस्थानी, गुजराती मिश्रित मराठी ग्रन्थ भी लिखे गये। भट्टारकों के प्रभाव बढने के साथ ही मराठी की ओर भी झुकाव अधिक होने लगा। ईडर, कारंजा, कोल्हापुर, लातूर इसके केन्द्र बन गये।

4. हिन्दी, मराठी और गुजराती मिश्रित साहित्य ने भी मराठी जैन साहित्य को कम किया। उदाहरणार्थ शान्तकीर्ति का 'रामायणी कथा' काव्य ऐसा ही ग्रन्थ है जो इन तीनों मिश्रित भाषाओं में शक सं. 1446 में लिखा गया। इसके पूर्व मराठी भाषा का उपयोग शिलालेखों में होता रहा है। कुवलयमाला (ई. सन् 778) में अठारह देशी भाषाओं में मराठी का भी उल्लेख है। यशश्चन्द्र के 'राजीमती प्रबोध' काव्य में एक महाराष्ट्रीय व्यक्ति ने राजमती का सौन्दर्य वर्णन मराठी में किया है। 14 वीं शती में नयचन्द्र ने अपनी 'हिन्दी रंगमंजरी' में और कन्नड कवि रन्न ने अपने अनन्तनाथ पुराण में मराठी पंक्तिओं का प्रयोग किया है।

मराठी जैन साहित्य का प्रारम्भ 15वीं शताब्दी से होता है। इसके प्रथम ग्रन्थकार होने का श्रेय कदाचित् गुणदास को जाता है, जिनका समय ई. सन्

1450 है। इस समय मराठी के लिए गुजराती और कन्नड संक्रान्ति क्षेत्र की भाषायें कही जा सकती हैं। यही कारण है कि मराठी भाषी साहित्यकार कुछ ऐसे भी हुए हैं, जिन्होंने तीनों भाषाओं में साहित्य सृजन किया है। धर्म प्रसार की दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत भाषाएं उतनी उपयोगी सिद्ध नहीं थीं, जितनी तत्कालीन लोक भाषाएँ। जैन मराठी भाषी ग्रन्थकारों की गुरु परम्परा गुजरात और कन्नड से भी सम्बद्ध रही है। ब्रह्म जिनदास ने गुजराती ग्रन्थों को मराठी भाषा में अनुदित किया। इसी तरह पुण्याश्रवकथा कोश, गिरिसुतकृत पाण्डव पुराण, कर्माष्टमी कथा जैसे कन्नड ग्रन्थ भी मराठी में आये।

हिन्दी ग्रन्थ भी मराठी ग्रन्थों के आधार बने। पुण्यसागर, मेघराज, कामराज जैसे ग्रन्थकार मराठी भाषी नहीं थे पर, उन्होंने अपनी टूटी–फूटी मराठी में ग्रन्थ रचना की। जनार्दन और जिनसागर ऐसे कवि थे, जिन्हें मराठी भाषा पर गर्व था। रत्नकीर्ति और वीरदास ने मराठी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इसलिए बनाया कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के जानकार उस समय बहुत कम थे। मराठी देशभाषा थी; उसे म्हराष्टि, मरहाठि, मर्हाष्ट, मराष्ट्र, महाराष्ट्र भी कहा जाता था। इसका सम्बन्ध महाराष्ट्री प्राकृत से रहा है।

महाराष्ट्र और जैनधर्म

महाराष्ट्र को हम भले ही वृहदाकार के रूप में स्वीकारें पर उसके नाम से विख्यात महाराष्ट्री प्राकृत का स्वरूप निश्चित ही उसके महत्त्व की ओर संकेत करता है। विदर्भ से लेकर खानदेश और कोंकण प्रदेश का सारा भाग महाराष्ट्र की परिधि में आता है। महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग महावंस में हुआ है – **महारट्ठं इसी गन्त्वा सो महाधम्मरक्खितो**। शिलालेखों में इसका प्राचीनतम प्रयोग शकवंशीय महाक्षत्रप राजन् श्रीधर वर्मा के आरक्षिक सत्यनाग के लेख में हुआ है जिसमें सत्यनाम को महाराष्ट्रक कहा गया है। इसका समय है शक सं. 102 (सन् 180)। इसी तरह चालुक्यवंशीय द्वितीय पुलकेशी के ऐहोल शिलालेख (ई. सन् 634) में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

महाराष्ट्र प्रदेश से जैनधर्म का बहुत पुराना सम्बन्ध रहा है। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की दक्षिण यात्रा का सन्दर्भ तो है ही, कहा जाता है, गजपन्थ

से सात बलभद्रों का निर्वाण हुआ है और तुंगी पर्वत को राम तथा कुंथुगिरि पर्वत को कुलभूषण–देशभूषण का मुक्ति–स्थल माना जाता है। वज्रसेन, कालक, पादलिप्त, सिद्धसेन, अकलंक, विद्यानन्द आदि आचार्यों ने महाराष्ट्र में विहार किया है। वीरसेन, जिनसेन, धनंजय और स्वयंभूदेव का जन्मस्थान विदर्भ रहा है। धाराशिव (उस्मानाबाद), अंकाई (मनमाढ), अंजनेरी (नासिक), एलोरा आदि के गुहा मन्दिर तथा कोल्हापुर, पैठन, शिरपुर आदि के जैन मन्दिर जैनधर्म की समृद्ध स्थिति के सूचक माने जा सकते हैं।

प्राचीन महाराष्ट्र में जैन संस्कृति की समृद्धि आज भी देखी जा सकती है। आज भी महाराष्ट्र में जैनों की संख्या सर्वाधिक है 7,53, 664। विशेष रूप से पुणे बम्बई, सोलापुर, कोल्हापुर, सांगली, सातारा, परभणी, अमरावती, नागपुर, नांदेड, लातूर, उस्मानाबाद, औरंगाबाद, नाशिक, बुलढाणा, बेलगांव, निपाडी आदि जिलों में जैन समाज हर क्षेत्र में बहुत सक्रिय है । शिक्षा और उद्योग जैसे क्षेत्रों में जैन समाज का योगदान अविस्मरणीय है। फिर भी उसका एक वर्ग विशेष आज भी निर्धनता की चपेट से उभर नहीं पाया ।

जैनधर्म और संस्कृति के चार स्तम्भ हैं – अहिंसा, अनेकान्तवाद, अपरिग्रह और सहिष्णुता। इन चारों पायों पर समूची जैन संस्कृति का प्रासाद खडा हुआ है। श्रवणबेलगोला में गोमटेश्वर भगवान बाहुबलि की प्रतिमा स्थापित कर यह संकेत दिया है कि दक्षिणापथ में जैनधर्म तीर्थंकर ऋषभदेव से ही प्रचलित रहा है। इसे श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त ने एक वृहत् मुनिसंघ को साथ लेकर जो दक्षिण की यात्रा उसने इस तथ्य को और भी परिपुष्ट कर दिया। यहां के राष्ट्रकूट, यादव, चोल, गंग आदि राजाओं ने जैनधर्म को अच्छा आश्रय दिया ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ आदि मराठी सन्तों पर जैन संस्कृति का प्रभाव है ही। महानुभाव माध्व व वारकरी और नाथ पन्थ भी जैनधर्म के आचार और व्यवहार से बहुत अधिक प्रभावित हैं। माध्वभत को तो प्रच्छन्न जैन कहा जाता है। ऊँ नमः सिद्धम् का अपभ्रष्ट रूप 'ओनामासीधम्' आज भी महाराष्ट्र में प्रचलित है। पेठण, कोल्हापुर, मान्यखेट आदि नगर प्रारंभ से ही जैनधर्म के गढ रहे हैं। सात– वाहन

राजाओं ने जैनसंस्कृति को अपने प्रभावक जल से पुष्पित–पल्लवित किया है। करहाटक (कराड) श्रूतधर आचार्य भूतबली का कार्यस्थल रहा है। अपभ्रंश ने तो मराठी को संवर्धित किया ही है।

मराठी जैन साहित्य का वैशिष्ट्य

समूचे मराठी जैन साहित्य के परिशीलन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मराठी जैन साहित्यकारों का मूल उद्देश्य जैनधर्म का प्रचार–प्रसार रहा है। उनके समक्ष हिन्दी, गुजराती, कन्नड या संस्कृत–प्राकृत ग्रन्थ थे ही। उनका यथासंभव मराठी अनुवाद करके उन्होंने अपना उद्देश्य सिद्ध किया और मराठी भाषियों को ये ग्रन्थ अनुदित रूप में सुलभ करा दिये।

मराठी जैन ग्रन्थों की एक अन्य श्रेणी है आधारभूत ग्रन्थ । पूर्वोपलब्ध ग्रन्थों का आधार लेकर नया ग्रन्थ तैयार करने की भी परम्परा रही है। गुणकीर्ति का धर्मामृत, मेघराज का जसोधररास, वीरदास का सुदर्शनचरित्र, महीचन्द्र का आदिपुराण, जिनसागर का जीवन्धर पुराण ऐसे ही ग्रन्थ हैं जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं। यहां मौलिक ग्रन्थों की कमी खटकती है।

मराठी जैन साहित्य उत्कृष्ट कोटि का भी नहीं कहा जा सकता है। पंडित मेघराज, गुणसागर, जनार्दन, जिनसागर, जिनदास, गुणकीर्ति, जिनसेन, महीचन्द्र, वीरदास, दयासागर आदि कवियों को प्रतिभावान नहीं कहा जा सकता। उन्होंने पौराणिक कथाओं में कोई परिवर्तन भी नहीं किया। पुराण, चरित्र, आख्यान, धर्मकथा, व्रतकथा आदि विधाओं में उनका अनुवादन रूप अधिक दिखाई देता है।

इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि मराठी जैन साहित्यकारों में कवित्व शक्ति है ही नहीं। उन्होंने पद, छंद, राग आदि का भरपूर अध्ययन किया और अपने साहित्य को एक ओर संगीतात्मक बनाया तो दूसरी ओर यथास्थान रस और अलंकारों का भी उपयोग किया। गुणकीर्ति ने स्वयं को 'कविश्वरु' कहा। मेघराज, ब्राह्मणदास, गुणनन्दी, जिनसागर आदि कवियों ने अपने ऊपर सरस्वती कृपा का उल्लेख किया। पद्मपुराण, हरिवंश पुराण, रुक्मिणी हरण,

श्रेणिक चरित्र आदि ग्रन्थ काव्यत्व की दृष्टि से खरे उतरते दिखाई देते हैं। इसी खांचे में उन्होंने परम्परा का पालन किया और आचारधर्म को समाहित किया।

जैन कवियों का उद्देश्य वैराग्य को उत्पन्न करना रहा है। भव–भवान्तर की बात करते हुए कर्मों की प्रकृति को स्पष्ट करना और संसार के स्वरूप को चित्रित करना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। इसलिए उनके साहित्य में भक्तिरस और शान्तरस का होना स्वाभाविक ही है। श्रृंगार, वीर आदि रसों का उपयोग तो आनुसंगिक रूप से ही हुआ है। संसार से विरक्ति पैदा करने के लिए ही उनका उपयोग किया गया है। जीवन्धर और सुरमंजरी के प्रेम का वर्णन, नेमिनाथ विवाह के प्रसंग में विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन, जम्बूस्वामी और रत्नचूल के युद्ध का वर्णन, चेलना का विलाप आदि ऐसे ही स्थल हैं जिनमें संसार चित्रण का मूल भाव रहा है। इसलिए अलंकार प्रदर्शन की अपेक्षा स्वाभाविकता अधिक लक्षित होती है और रूपक अलंकार का उपयोग अपेक्षाकृत अधिक दिखाई देता है। इससे वर्णन में सघनता और गंभीरता आ गई है।

मराठी जैन साहित्य का युगीन विभाजन

मराठी जैन साहित्य को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं – 1) आदि कालीन (8 वीं से 1450 ई. तक), 2) मध्यकालीन (सन् 1450 से 1850 तक), और 3) आधुनिक कालीन (सन् 1850 से वर्तमान तक)।

आदिकालीन मराठी जैन साहित्य

जैसा हम जानते है, महाराष्ट्री प्राकृत से ही मराठी का विकास हुआ है और उसी से अपभ्रंश का एक रूप लोक व्यवहार में प्रचलित दिखाई देता है। इसी अपभ्रंश से मराठी, गुजराती, बंगाली और हिन्दी भाषाएं विकसित हुईं। इन सभी भाषाओं के विकास में जैनाचार्यों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। मराठी का आद्य उद्धरण भी जैनों ने सहेजकर रखा है। इसका प्रारम्भ लगभग आठवीं शताब्दी से दिखाई देने लगता है। राष्ट्रकूटकाल इसका आद्यकाल माना जा सकता है। कुवलयमाला में उद्योतनसूरि (सन् 778) ने इसका संकेत किया है जहां उन्होंने अठारह देशी भाषाओं के व्यापारियों की भाषाओं का वर्णन एक–एक गाथा में किया

है। इसी प्रसंग में उन्होंने एक गाथा में मराठी (मरहट्ट) का भी प्रसंग दिया है। कर्नाटक में भी मराठी का प्रचार रहा है। कर्नाटक के महनीय कवि पम्प ने विक्रमार्जुन विजय (सन् 932) तथा जन्न के अनन्तनाथ पुराण (सन् 1210) में मराठी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। श्रवणबेलगोल के प्रारम्भिक शिलालेख गोम्मटेश्वर की विशालमूर्ति के वामचरण के पास उट्टंकित लेख (लगभग शक सं. 950) में चामुण्डराजे, गङ्गराजे सुत्ताले करवियले जैसे मराठी शब्दों का प्रयोग हुआ है। आचार्य स्वयंभू और पुष्पदन्त को भी भला कौन भूल सकता है जिन्होंने अपने ग्रन्थों में मराठी शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है ? गुजराती के महाकवि यशश्चन्द्र के 'राजीमतीप्रबोध' (सन् 1128) तथा नयचन्द्र की 'रम्भामंजरी' (14 वीं शती) का भी उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जाता है । दसवीं शताब्दी के श्रीपति की 'ज्योतिषरत्नमाला' अथवा 12वीं शताब्दी के मुकुन्दराज का 'विवेकसिन्धु' मराठी साहित्य का आद्यग्रन्थ माना जाता है। आगे ज्ञानेश्वर और चक्रधर आदि कवियों ने मराठी भाषा में प्रभूत ग्रन्थ सम्पदा दी है। जैन मराठी साहित्य भले ही प्रारंभिक शताब्दियों में नहीं लिखा गया हो पर मराठी का आद्यतम उपयोग श्रवणवेलगोल के जैन शिलालेख में मिलता ही है। इसे जैनाचार्यों का मराठी के विकास में विशिष्ट योगदान माना जा सकता है। 15 वीं शताब्दी में रचित जैन मराठी साहित्य भी उपलब्ध होता है।

आदिकालीन मराठी जैन साहित्य का मूल्यांकन अपभ्रंश भाषा और साहित्य का उल्लेख किये बिना अधूरा रहेगा। अपभ्रंश इस समय तक लोकभाषा या देशभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। वह प्राकृत का ही अपभ्रष्ट रूप था। नाटकों में प्राकृत का प्रयोग समाज का सर्व साधारण वर्ग ही किया करता था। भरत ने लोक भाषाओं के रूप में जिन सप्त भाषाओं की गणना की है उनमें दाक्षिणात्या भी है – मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाल्हीक और दाक्षिणात्या। यह भाषा जगत कालान्तर में उकार बहुला बन गया। भरत के बाद भामह, दण्डी, वररुचि, पतंजलि, पुष्पदन्त, हेमचन्द्र, पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, मार्कण्डेय, राजशेखर आदि शताधिक कवियों और वैयाकरणों ने इस भाषा को पोषित किया है। इनमें अधिकांश कवि जैनधर्मावलम्बी थे। स्वयम्भू का 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महापुराण', धनपाल का 'भविसयत्तकहा', धवल का 'हरिवंशपुराण',

जोइन्दु का 'परमात्मप्रकाश', रामसिंह का 'पाहुडदोहा' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनके ग्रन्थों में आदिकालीन मराठी भाषा का रूप अन्वेषणीय है। सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ आदि के ग्रन्थों पर जैन संस्कृति का अटूट प्रभाव दिखाई देता है। इस काल में मराठी जैन ग्रन्थ भले ही उपलब्ध नहीं हो पर मराठी के विकास में जैनाचार्यों का योगदान विस्मृत नहीं किया जा सकता।

मराठी साहित्य और जैन मराठी साहित्यकार

मराठी साहित्य का आदिकाल भक्त कवियों के उन्मेष से प्रारम्भ होता है। इस काल में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत, अपभ्रंश और अपभ्रंश से उदित होनेवाली मराठी जैसी गतिशील भाषाओं ने जन मानस पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। इन्हीं जन भाषाओं का आधार लेकर मराठी सन्तों ने अपने धर्म का प्रचार–प्रसार किया। सन्त शब्द हिन्दी के निर्गुण मार्गी सन्त कवियों के लिए भले ही प्रयुक्त होने लगा हो पर साधारण तौर पर वह एक आध्यात्मिक भक्त साधक के लिए प्रयुक्त होता रहा है। नामदेव और कबीर जैसे निर्गुण सन्तों के साथ ही तुलसी, सूर जैसे सगुणी भक्त कवियों ने भी सन्त शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। जैन मराठी साधक भी इसी परम्परा के सम्वाहक हैं।

मराठी निर्गुण सन्त परम्परा महानुभाव पंथ के संस्थापक चक्रधर (ई. 1194–1274) से प्रारम्भ होती है, जो 16 वीं शती के आरम्भ तक अविच्छिन्न रूप से मिलती है। मराठी का प्राचीन साहित्य नाथपंथ, महानुभाव पन्थ, वारकरी सम्प्रदाय, श्रीदत्त सम्प्रदाय, रामदासी सम्प्रदाय, आनन्द सम्प्रदाय आदि अध्यात्मवादी एवं भक्ति सम्प्रदायों से पुष्ट हुआ है। इन सम्प्रदायों के संत कवियों पर परवर्ती अन्य कवियों का अमिट प्रभाव पडा है। नामदेव और ज्ञानेश्वर पर नाथ पन्थ का प्रभाव दिखाई देता है। नामदेव वारकरी सम्प्रदाय के मूर्धन्य कवि और ज्ञानेश्वर वारकरी या भागवत सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने गये हैं। गोरखनाथ ज्ञानेश्वर के गुरु थे। और गोरखनाथ पर मराठी का प्रभाव दिखाई देता है। महाराष्ट्र की एक दूसरी नाथ परम्परा मुकुन्दराज (ई. 1128–1200) से शुरू होती है जिन्होंने सीधे अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। उनके बाद ही महानुभाव पन्थ की स्थापना चक्रधर ने की। इन सभी मराठी सन्तों ने संस्कृत

में न लिखकर मराठी को ही अपने प्रचार की भाषा बनाया। इसी के माध्यम से उन्होंने आचार–विचार के क्षेत्र में क्रान्ति की। चक्रधर ने बहुदेववाद का विरोधकर केवल परब्रह्म परमेश्वर की उपासना पर जोर दिया, वेदों के चातुर्वर्ण्य का विरोध किया, अस्पृश्यता को पूरी तरह से नकार दिया और पंच कृष्ण (परमेश्वर के पांच साकार अवतार) बनाकर सगुण पूजा का पन्थ चालू किया। यह पन्थ पूरा द्वैतवादी है, भक्तिवादी है, निवृत्तिवादी है।

वारकरी या भागवतपन्थ अद्वैतवादी है। उसकी दृष्टि में परमात्मा व्यापक, निर्गुण और निराकार होते हुए भी सगुण एवं साकार रूप धारण करता है। निर्गुण और सगुण में कोई विरोध नहीं, बल्कि वे परस्पर पोषक है। आश्रम या वर्णव्यवस्था भक्तिमार्ग में प्रतिबंधित नहीं है।

महाराष्ट्र के पांच प्रतिनिधि सन्त माने जाते हैं – नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम और रामदास इन पांचों सन्तों में से ज्ञानेश्वर का परमार्थ मार्ग प्रायः बुद्धिनिष्ठ था, संत नामदेव और तुकाराम का परमार्थ मार्ग पूर्णतः भावनिष्ठ था। संत एकनाथ ने बुद्धि और भाव में सन्तुलन स्थापित कर प्रपंच और परमार्थ का स्वर्ण समन्वय किया। समर्थ रामदास ने कर्म पर अधिक बल दिया।

इन मराठी संतों के साहित्य का अन्तःस्तल देखने पर मुझे ऐसा लगता है कि उनपर जैनधर्म की छाप अमिट रूप से अंकित रही है। महाराष्ट्र में जैनधर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। बौद्धधर्म की तन्त्र परम्परा ने उसे विनाश के कगार पर खडा कर दिया जबकि जैन परम्परा पुष्पित–पल्लवित होती रही। वैदिक पुरोहितवाद और वर्णव्यवस्था तथा अस्पृश्यतावाद ने समाज में विघटन और असन्तोष पैदा कर दिया। ऐसी स्थिति में जनता का ध्यान जैनधर्म के मानवतावाद और सर्वोदयवाद की ओर जाना स्वाभाविक था । परम्परा को पूर्णतः तिलांजलि देना सरल नहीं होता । इसलिए मराठी सन्तों ने वैदिक धर्म की परिधि में ही रहकर उसमें संशोधन किया और अपने–अपने सम्प्रदाय खडे किये । जैन परम्परा में निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से निर्गुण और सगुण दोनों परम्परायें मिलती हैं । मराठी सन्तों ने भी इन दोनों परम्पराओं को अपने–अपने ढंग से स्वीकार किया । अतः मेरी दृष्टि में प्राचीन मराठी सन्तों

पर बौद्धों की अपेक्षा जैन परम्परा का प्रभाव अधिक रहा है । विशेष रूप से महानुभाव पन्थ जैनधर्म का ही परिवर्तित रूप दिखाई देता है ।

मराठी जैन सन्तों ने जैन परम्परा में समागत भक्ति तत्त्व पर अथक जोर दिया । उन्होंने अद्वैत और द्वैत, दोनों की साधना की, पर उनका दर्शन जैन दर्शन ही रहा और जैन दर्शन की आधार शिला पर बैठकर ही वे अध्यात्मसाधना में जुटे रहे । भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ एक सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के रूप में हुआ । उसने अपने सांस्कृतिक संस्थानों का संरक्षणकर जैनधर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा । सामाजिकता और आध्यात्मिकता का विचित्र समन्वय कर उसने निश्चित ही समाज के विकास में अपना अनूठा योगदान दिया है । सर्वधर्म समभाव और सहिष्णुता का पाठ देकर उसने जैनधर्म को और भी प्रभावक बना दिया है । इसी परिप्रेक्ष्य में मराठी जैन साहित्य के आदिकाल और मध्यकाल को देखा जाना चाहिये ।

द्वितीय परिवर्त

मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्य

मध्ययुगीन मराठी जैन साहित्य का काल सन् 1450 से सन् 1850 तक माना जा सकता है । इस काल के दौरान जैनाचार्यों ने मराठी में मौलिक कम और अनुदित साहित्य का सृजन अधिक किया । कदाचित् गुणदास को इस युग का प्रथम साहित्यकार कहा जा सकता है । इस काल में लगभग 200 ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें 3 पुराण ग्रन्थ, 20 काव्य ग्रन्थ, 7 कथा ग्रन्थ, 26 व्रत कथा ग्रन्थ, स्तुतिपरक व उपदेशपरक गीत और महतिसागर के 200 तथा कवीन्द्रसेवक के 535 अभंग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान, श्रावकाचार, श्रमणाचार, पूजा, स्तुतिस्तोत्र, आरती आदि आध्यात्मिक ग्रन्थों और गीतों की भी काफी संख्या है । इसे हम संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि इस साहित्य के निर्माता भट्टारक, गृहस्थ और ब्रह्मचारी वर्ग रहे हैं । उन्होंने मराठी के साथ ही गुजराती, हिन्दी और संस्कृत में भी ग्रन्थरचनाएं की हैं । यह साहित्य विदर्भ और मराठवाडा में अधिक लिखा गया है । अब हम मराठी जैन साहित्य को शताब्दी के आधार पर वर्गीकृत कर रहे हैं ।

१५ वीं शती के साहित्यकार

ब्रह्म गुणदास

कवि ब्रह्म गुणदास या गुणब्रह्म (ई. 1450) मराठी जैन साहित्य के प्रथम रचनाकार हैं जिन्होंने श्रेणिकचरित्र (4 अध्याय और 300 ओवी), क्षमागीत (6 पद्य), विंचूगीत (5 पद्य), गारहायो (6 पद्य) व रामचन्द्र हळदुली (30 पद्य) ग्रन्थों की रचना की । वे ब्रह्मचारी थे तथा ईडर के भट्टारकों की शिष्य परम्परा से सम्बद्ध थे ।

उनके गुरु भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्म जिनदास ईडर के ही भट्टारक थे। ब्रह्म जिनदास के तीन शिष्य थे– मल्लिदास, गुणदास तथा नेमिदास । मल्लिदास और गुणदास का उल्लेख जिनदास ने रामायणदास (सं. 1508) और हरिवंशरास (सं. 1520) में किया है।

गुणकीर्ति

गुणकीर्ति (सन् 1450 – 1470) गुणदास के समकालीन थे। आप ईडरशाखा के भुवनकीर्ति के शिष्य थे । जैसवाल कुल में उत्पन्न हुए थे। भुवनकीर्ति के शिष्य जिनदास ने सन् 1451 में रामायणरास लिखा और गुणकीर्ति ने पद्मपुराण की रचना जिनदास के उपदेश से की । अतः गुणकीर्ति का समय 15 वीं शती का उत्तरार्ध है । गुणदास और गुणकीर्ति एक ही व्यक्ति हैं या पृथक् पृथक्, यह कहना कठिन है । संभवतः मुनि अवस्था में आ जाने पर गुणदास ही गुणकीर्ति हो गये हों । तभी उन्हें भट्टारक, मुनि और आचार्य कहकर उल्लेखित किया गया है । उन्होंने धर्मामृत, पद्मपुराण, रुक्मणिहरण, रामचन्द्र फाग, गौलणिभास अथवा नेमिनाथ विवाह, नेमिनाथ पालणा, नेमिनाथ जिनदीक्षा, धंदा गीत और रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की । विवेक विलास, नेमीश्वर राजमती फाग तथा सीतादिव्यगीत ये कवि की गुजराती रचनाएं हैं। उनके चौपदी पद भी मिलते हैं जिनमें गुजराती और मराठी का मिश्रित प्रयोग है । क्षमाभाव धारण करने के लिए कवि ने बहुत सी चित्ताकर्षक बात कही है–

"इया गीतालागी चित्त द्यावे दूजे । आता अबोलणे न राहिजे ।
ब्रह्मगुणदास म्हणे साहाजे । आता प्रेमरसे मनभीजे वो ।।6।।

धर्मामृत गद्य में लिखा एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें आदर्श श्रावकचर्या का विस्तृत वर्णन है । मराठी गद्य साहित्य में इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट स्थान है । भाषा सरल और प्रभावक है । इसे 'धर्मामृततत्त्वसार' की भी संज्ञा दी गई है । शक सं. 1571 (सन् 1649) की इसकी प्राचीनतम प्रति उपलब्ध है जिसमें कवि ने स्वयं को "कविश्वरू गुणकीर्ति" कहा है । इस ग्रन्थ से कवि के बहुश्रुती व्यक्तित्व की झलक दिखाई देती है । उनका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को धर्म–मार्ग

की ओर आकर्षित करना रहा है । भाषा, विषय और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से **धर्मामृत** निश्चित ही एक मौलिक ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

पद्मपुराण एक अपूर्ण काव्य ग्रन्थ है जिसमें 43 अध्याय और 15,000 ओबी हैं । जिसमें 1 से 28 अध्याय गुणकीर्तिकृत, 28 से 35 अध्याय ब्रह्म चिन्तामणिकृत व 36 से 43 अध्याय ब्रह्म. पुण्यसागर कृत माना जाता है पद्मपुराण रविषेण कृत पद्मचरित की कथावस्तु पर आधारित रामकथा है । इसमें द्वादशानुप्रेक्षाओं (345 ओवी) का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। संपूर्ण ग्रन्थ में 15000 ओवी हैं। इसका प्रथम प्रकाशन 1902 में जयचन्द्र श्रावणे, वर्धा ने किया । जैन परम्परा में रामकथा की दो परम्परायें मिलती हैं । एक परंपरा का आधार विमलसूरि कृत पउमचरिय ग्रन्थ है और दूसरी परम्परा का आधार गुणभद्र कृत उत्तरपुराण है । गुणकीर्ति का यह पद्मपुराण उत्तरपुराण का अनुकरण करता हुआ नजर आता है । इसी पद्मपुराण में वर्णित बारह 'अनुप्रेक्षा' के विषय को पृथक् रूप से संकलित किया है । मराठी में कदाचित् इस विषय पर यह प्रथम ग्रन्थ है । वैराग्य की दृष्टि से यह रचना सरस और प्रभावक है ।

रुक्मणिहरण 64 कडव्यों की सरस रचना है । प्रत्येक कडवक में आठ चरण हैं जिन्हें चढावा कहा गया है । इसकी रचना शक सं. 1577 (सन् 1655) में हुई । इस पर गुजराती भाषा का प्रभाव दिखाई देता है । यहां यह उल्लेखनीय है कि **रुक्मिणीहरण** के अन्तिम कडवक में कवि ने स्वयं को जैसवाल कुल में उत्पन्न मुनि कहा है । रामचन्द्र फाग में 31 कडवक हैं । फाग 'फग्गु' शब्द से निकला है जिसका अर्थ होता है मधूत्सव । इसमें सुन्दर वसन्त वर्णन है । **नेमिनाथ पालणा** में तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्मोत्सव वर्णन 19 कडवों में किया गया है । **नेमिनाथ विवाह** 44 कडवों की रचना है जिसमें विवाह के प्रसंग पर मारे जाने वाले पशुओं की करुणगाथा का वर्णन है । तथा संसार की क्षणभंगुरता का चित्रण है । नेमिनाथ जिनदीक्षा में 45 कडवक हैं जिनमें तपश्चर्या और ध्यान का वर्णन है । धंदागीत में मात्र 6 कडवक हैं जो वैराग्यपरक हैं और रत्नकरण्ड श्रावकाचार मराठी में लिखी टीका है ।

समचन्द्र फाग पर गुजराती का प्रभाव अधिक है। संभवतः कवि गुजराती की इस विधा को मराठी साहित्य में लाना चाहते थे। वसन्तोत्सव में इन्हें समूहगीत के रूप में गाया जाता है। इसलिए इसे फागु की संज्ञा दी गई है। इसमें वसन्त ऋतु का बडा सरस वर्णन है। इसे मधूत्सव कहा जाता है। इस उत्सव में गुजराती, तेलंगणी, कानडी आदि महिलायें भाग लेती हैं। उनमें हस्तिनी, चित्तिणी, पद्मिणी और शंखिणी भी होती हैं। इसमें गुजराती और मराठी भाषाओं का मिश्रित रूप उपलब्ध होता है।

इन ग्रन्थों की प्रशस्ति और पुष्पिका वाक्यों से पता चलता है कि गुणकीर्ति मूलसंघीय बलात्कारगण की ईडर शाखा के आचार्य भुवनकीर्ति के शिष्य थे । उनके काव्य ग्रन्थों को देखकर लगता है कि नामदेव के बाद उत्पन्न हुई साहित्यिक रिक्तता को गुणकीर्ति ने भरने का सफल प्रयत्न किया है । उनका समय भी 15 वीं शती का उत्तरार्ध है। गुणदास और गुणकीर्ति पृथक्–पृथक् व्यक्तित्व हैं ।

ईडर के भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य इन गुणकीर्ति के साथ भट्टारक और मुनि दोनों विशेषणों का प्रयोग हुआ है । गुरु के रूप में उन्होंने सकलकीर्ति और ब्रह्म जिनदास का भी उल्लेख किया है।

जिनदास

महान् कवि जिनदास ने **हरिवंशपुराण** जैसा उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ मराठी साहित्य जगत को दिया । परन्तु दुर्भाग्य से यह रचना उनके द्वारा पूर्ण नहीं हो सकी । इसके 55 अध्याय जिनदास ने रचे और शेष 12 अध्यायों की रचना पुण्यसागर द्वारा लगभग 200 वर्ष बाद हुई । जिनदास ईडर के भट्टारक भुवनकीर्ति के शिष्य उज्जंतकीर्ति के शिष्य थे जिन्होंने देवगिरि में एक स्वतन्त्र पीठ की स्थापना की । उनका समय सं. 1550 (सन् 1493) माना जाता है । अलाउद्दीन सुल्तान के समय देवगिरि में भट्टारक का सम्मान भी हुआ था । जैन परंपरा में वर्णित हरिवंशकुल के आधार पर हरिवंशपुराण रचा गया है । संपूर्ण ग्रन्थ की ओवी संख्या 11000 है।

जैन परम्परा में हरिवंशपुराण के नाम से संस्कृत और प्राकृत भाषा में अनेक पुराण और काव्य उपलब्ध हैं । दिगम्बर पंथ में जिनसेन का शक सं. 705 में लिखा गया हरिवंशपुराण बहुत लोकप्रिय है । इसमें श्रीकृष्ण को नारायण के रूप में और जरासंध को प्रतिनारायण के रूप में चित्रित किया है। गुणभद्र के उत्तरपुराण (सं. 955) में भी यह कथा मिलती है । ब्रह्म जिनदास का मराठी भाषा में लिखा गया यह हरिवंशपुराण भी इसी परम्परा से जुडा हुआ है।

जिनदास ने गुजराती में लगभग पचास ग्रन्थों की रचना की । मराठी भाषा में लिखने की प्रेरणा भी उन्हें गुजराती विद्वानों से प्राप्त हुई । जिनदास के पूर्व लिखा गया मराठी जैन वाङ्मय का कोई अच्छा ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ ।

इस तरह 15 वीं शती में मराठी जैन साहित्य पूर्वापेक्षया काफी समृद्ध हुआ जिसे गुजराती कवियों ने समृद्ध किया । ऐसे कवियों में ब्रह्म जिनदास प्रमुख माने जा सकते हैं । इस कालावधि में पुराण, चरित्र, तत्त्वज्ञान, आचारधर्म आदि सभी विषयों पर जैन कवियों ने अपनी पैनी लेखनी चलाई है ।

१६ वीं शती के साहित्यकार

पन्द्रहवीं शताब्दी की अपेक्षा सोलहवीं शताब्दी में मराठी रचनाएं कुछ अधिक मिलती हैं । इन रचनाकारों में पण्डित मेघराज, पण्डित सूरिजन, नागो आया और गुणनन्दि प्रमुख हैं । इनके विषय में विशेष जानकारी तो नहीं मिलती पर जो भी मिलती है उसे संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है–

पण्डित मेघराज

पण्डित मेघराज सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल के मूर्धन्य साहित्यकार थे । उन्हें मेघा नाम से भी जाना जाता है । वे मूलतः गुजराती थे पर मराठी पर भी उनका समान अधिकार था । उन्होंने अपने गुरु ब्रह्म शान्तिदास का उल्लेख **शान्तिनाथ चरित्र** में किया है जो गुजराती में लिखा गया है । वहीं मेघो और मेघराज की एकात्मकता का भी उल्लेख आया है। शान्तिदास भी गुजराती थे और उन्होंने भी मराठी में साहित्यिक रचनायें की हैं । उनका समय

सं. 1508 से 1520 के बीच माना जाता है । अतः मेघराज का भी समय लगभग यही कहा जा सकता है ।

उनके ग्रन्थों में जसोधरदास, पार्श्वनाथ भवान्तर, कृष्णगीत, रामायणी कथा, गुजरी मराठी गीत व गोम्मटस्वामी गीत प्रमुख हैं।

जसोधररास में यशोधर का वर्णन पांच अधिकारों, और 1164 ओळियों में किया गया है । अन्तिम पद्य में कवि ने स्वयं ही अपने गुरु का नाम शान्तिदास सूचित किया है । यह ग्रन्थ आचार प्रधान है और दार्शनिक सामग्री से ओतप्रोत है । अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का वर्णन प्रभावक ढंग से किया गया है। यशोधर चन्द्रमती कथानक में यह दिखाया गया है कि माता के आग्रह पर कात्यायनी देवी को बलि देने के कारण यशोधर को सात जन्मों तक दुःख भोगने पडे ।

पार्श्वनाथ भवान्तर में 47 कडवकों में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के भवान्तरों का वर्णन मिलता है । इसमें अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर की अधर मूर्ति का भी उल्लेख हुआ है । माता वामादेवी ने पार्श्वनाथ से विवाह करने का आग्रह किया पर पार्श्वनाथ ने उसकी निरुपयोगिता बताकर अस्वीकार कर दिया और इसी सन्दर्भ में स्वयं ने ही अपने भवान्तरों का कथन किया।

कृष्ण गीत में तीन गीत हैं जिनमें 76 (17 + 16 + 43) कडवक हैं । इन गीतों में श्रीकृष्ण और उनकी रानी रुक्मिणी, सत्यभामा और जांबुवंती के बीच संवाद है । यह संवाद अध्यात्मिकता से भरा हुआ है और गूढार्थक है। उदाहरणार्थ–

"वेलु गमे न गमे । बोलिजे पारब्रह्मो ।
रसरंगें प्रीति प्रेमें । काइ कथने सांघा" ।।

रामायणीकथा भी गीतमय है । इसमें चार गीत हैं । इनमें दशरथ ने राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से कथात्मक संवाद स्थापित किया है और उसमें गूढ तत्त्व को संयोजित किया है ।

गुजरी मराठी गीत में 13 कडवक हैं जिनमें गुजराती और मराठी बोलने वाली दो महिलाओं के बीच संवाद है । यह संवाद उस समय का है जब गिरनार

पर तीर्थंकर नेमिनाथ की पूजन करने के लिए दोनों महिलायें जा रही हैं । आगे कौन जाये इसी प्रतिस्पर्धा में दोनों एक दूसरे की निन्दा करती हैं। इस निन्दा के विषय वेशभूषा, खानपान, रीतिरिवाज हैं जो उस समय दोनों समाजों में प्रचलित थे । यह बडा मनोरंजक गीत है । कवि अन्त में उनसे पारस्परिक निन्दा छोडकर भक्ति करने के लिए निवेदन करता है ।

इसी तरह **गोम्मटस्वामी** गीत में तीन कडवक हैं जिनकी रचना सकलाकरण राग में की गई है । गोम्मटेश्वर की यात्रा के परिणाम स्वरूप यह गीत लिखा गया है । एक अन्य गीत तीर्थवन्दना है जिसमें 22 पद्यों में निर्वाण काण्ड के आधार पर तीर्थवन्दना की गई है । यह गीत गुजराती भाषा में लिखा गया है ।

इनके अतिरिक्त मेघराज कवि का **शान्तिनाथ चारित्र** भी मिलता है जिसका लेखन काल वि. सं. 1617 है । इसमें उन्होंने प्रारंभ में 'सांतब्रह्मा' की वंदना की है और स्वयं को मेघ व मेघराज कहा है । यह रचना गुजराती में है । एक और अन्य रचना गुजराती में है – **तीर्थवन्दना** ।

कामराज

कामराज भी मेघराज के समान ब्रह्म शान्तिदास के शिष्य थे । उनकी भी मातृभाषा मराठी नहीं थी पर विदर्भ में रहने के कारण मराठी के कुशल ज्ञाता थे। समाज के अनुरोध पर उन्होंने सुदर्शनचरित्र और चेतनफाग ये रचनायें लिखीं । इनका भी समय 5 वीं शती का पूर्वार्ध है ।

सेठ सुदर्शन का नाम जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है । संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में उनपर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं । ब्रह्म नेमिदत्त, सकलकीर्ति, विद्यानन्द, विश्वभूषण, माणिक्यसूरि, देवेन्द्रसूरि आदि कवियों ने सुदर्शनचरित्र लिखे हैं । तीर्थंकर महावीर के तीर्थ में चारों प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए सुदर्शन ने निर्वाण प्राप्त किया था । णमोकार मन्त्र का प्रभाव उनकी सारी तपस्या पर रहा है ।

सुदर्शन कामदेव थे । उनके मनमोहक रूप पर स्त्रियाँ न्यौछावर हो जाती

थीं । परन्तु सुदर्शन कभी विचलित नहीं हुए । अन्त तक उन्होंने ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया । कामराज ने उन्हीं सुदर्शन का चरित्र 14 अधिकारों में लिखा जिनमें 987 ओवी हैं । इसमें आचार और दर्शन का सुन्दर समावेश है । ब्रह्मजिनदास के सुदर्शनदास के आधार पर इस काव्य की रचना हुई है । इसकी कथाकथन पद्धति देखिए –

"अरे जो जिनदासु ब्रह्मचारू । तेणे केला ग्रंथाचा वस्तारु ।
तोचि मज अवधारु । त्या नमन माझे ।। 1.8

जो कां ब्रह्मशांतिदासु । तो करी जैनधर्माचा प्रकासु ।
तेणे दिधला सायासु । त्या नमन माझें ।। 1.9

जो कां ब्रह्मचारी जाना । तो जैन धर्माच्या जाणे खूणा ।
पारू नाहीं तयाचिया गुणा । त्या नमन माझे ।। 1.10

नय जी नमन करितां । नय जी मर्हाष्ट बोलता ।
नय जी ओवी बांधता । बुधी विणु ।। 1.11"

चैतन्यफाग 14 कडवकों की एक छोटी रचना है जिसमें आत्मतत्त्व का काव्यमय विवेचन है । शरीर को पिंजरा और आत्मा को पति का रूपक देकर कवि ने इस सुन्दर रचना का निर्माण किया है । अन्तिम पद्य में उन्होंने लिखा है–

"आतमा चैतन्य राघो गायला परी । अनंतगुणे राघो तुझी कुसरी।
कामराज म्हणे राघो तूं सूत्रधारी । जानता नेवता राघो कविलासपुरी"।।

कवि की तीसरी रचना **धर्मफाग** भी प्राप्त हुई है जिसमें 13 पद्य हैं। इन पद्यों में धर्म से प्राप्त होने वाले सुखों का वर्णन हैं ।

पण्डित सूरिजन

पण्डित सूरिजन ब्रह्मशांतिदास के शिष्य थे । सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानकीर्ति, ज्ञानभूषण आदि आचार्य ईडर (गुजरात) भट्टारकीय परम्परा से जुडे हुए थे । पं. सूरिजन ज्ञानभूषण के काल में थे । उनका समय वि. सं. 1534 से 1560 तक माना जा सकता है ।

सूरिजन की मात्र एक ही रचना उपलब्ध होती है – **परमहंसकथा**। यह गद्य–पद्य मिश्रित चम्पूकाव्य है। कवी ने यहां 'अथ वचल चाली' कहकर गद्य लिखना शुरु किया और 'अथ वोकीया' लिखकर पद्य रचना की । यह रचना लगभग 1000 **ओवी** प्रमाण है । मराठी में निरंजन माधव ने इस प्रकार की चम्पूशैली का प्रयोग किया है । इसे शास्त्रप्रवचन शैली भी कह सकते हैं । कवि ने इसे 'वचन और वोवीया' कहा है । **महानुभाव** ग्रन्थों में भी इस शैली का प्रयोग हुआ है । निरंजन माधव ने भी सुभद्राचंपू को इसी शैली में लिखा है । परमहंसकथा वस्तुतः रूपक कथा है । कायानगरी, परमहंसराजा, चेतनाराणी, मायासवत, मनपुत्र आदि जैसे रूपक देकर कवि ने आध्यात्मिकता पर बात की है। भाषा, विषय, राजनीति आदि अनेक दृष्टियों से यह काव्य उदाहरणीय है । गुजराती के ब्रह्मजिनदासकृत 'परमहंसरास' का आधार लेकर सूरिजन ने अपना यह मराठी काव्य लिखा है । उन्होंने इसमें भट्टारक ज्ञानभूषण का भी उल्लेख किया है ।

जैन परम्परा में रूपक कथा का प्रचार बहुत रहा है । गुजराती में ब्रह्मजिनदास की 'परमहंसरास' कृति प्रसिद्ध है । उसी के आधार पर सूरिजन ने इसकी रचना की । सिद्धर्षि की "उपमिति भवप्रपंचकथा", जयशेखरसूरि का 'परमहंसप्रबंध' आदि ग्रन्थ रूपक कथा के क्षेत्र में ज्ञात ही हैं ।

नागो आया

नागो आया कारंजा पीठ के सेनगणीय माणिकसेन के शिष्य थे । माणिकसेन का समय ई.सन् 1540 के आसपास है इसलिए नागो आया का समय भी सोलहवीं शताब्दी का मध्यकाल माना जा सकता है ।

नागो आया का एक ही ग्रन्थ मिलता है – **यशोधरचरित्र** जिसे उन्होंने अपने गुरु की कृपा से कोट नगर में लिखा था । यह कोटनगर अकोला जिला का आकोट गांव है । इस ग्रन्थ में 5 अध्याय व कुल 292 ओवी हैं । वादिराज सूरि के यशोधरचरित्र के आधार पर इसकी रचना की गई है । यशोधर और चन्द्रमती के प्रसिद्ध कथानक को कवि ने अपनी प्रतिभा से समलंकृत किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह काव्य रोचक है ।

गुणनंदी

गुणनंदी कारंजापीठ के बलात्कारगणीय धर्म भूषण के शिष्य थे । यहां धर्मभूषण दो हुए हैं – पहले धर्म भूषण वि. सं. 1638 के आसपास विद्यमान थे और दूसरे का कार्यकाल वि. सं. 1707 से 1732 तक माना जाता है । ये धर्मभूषण कौन थे ? इन दोनों में से निश्चित नहीं कहा जा सकता है ।

गुणनंदी का भी एक ही ग्रन्थ मिलता है – **जशोधरपुराण** जो सकलकीर्ति के यशोधरचरित्र के आधार पर लिखा गया है । इसमें आठ अध्याय और 1316 ओवियां हैं । इसे उन्होंने मोरंबपुर के मालातीर्थ चैत्यालय में पूरा किया था । यह मारंबपुर कहां है ? यह अभी तक स्पष्ट नहीं है ।

16 वीं शताब्दी में इतने ही प्रमुख साहित्यकार हुए हैं । विदर्भ इन साहित्यकारों का गढ रहा है । कारंजा में सेनगण और बलात्कारगण का विशेष प्राबल्य था । गुजराती और मराठी में लिखने वाले साहित्यकार इस समय अच्छी संख्या में थे ।

१७ वीं शती के साहित्यकार

17 वीं शताब्दी में विदर्भ और **मराठवाडा** में भट्टारक परम्परा का प्रसार अधिक हुआ । लगभग सन् 1651 में लातूर में बलात्कारगण की एक शाखा स्थापित हुई । इस क्षेत्र में भट्टारकों का अच्छा प्रभाव रहा है । पूजा, प्रतिष्ठा, मूर्ति स्थापना आदि धार्मिक कार्यों में उनका प्रशस्त योगदान अविस्मरणीय है। इस काल में अधिकांश साहित्य धार्मिक ही लिखा गया है ।

अभयकीर्ति

अभयकीर्ति 17 वीं शती के पूर्वार्ध के प्रथम जैन कवि हैं । उनके गुरु अजितकीर्ति का समय शक सं. 1538 है। अभयकीर्ति का भी एक ही ग्रन्थ मिलता है – **अनन्तव्रतकथा** । यह कथा वैदिक संस्कृति से ली गई है । इसमें तीन अध्याय हैं, जिनमें 255 ओवी हैं । उसकी रचना शक सं. 1538 (सन् 1616) में हुई।

कहा जाता है, महावीर के शासनकाल में विजयसेन महाराज जब महावीर के समवशरण में पहुंचे तो श्रेणिक ने तीर्थंकर महावीर से उनके भवान्तरों

के सन्दर्भ में प्रश्न पूछे । उत्तर में तीर्थंकर महावीर ने यह कथा कहीं । तदनुसार विजयसेन पूर्वभव में सोम नामक ब्राह्मण था । अनन्तव्रत का पालन करने के कारण उसका सारा दारिद्र्य चला गया और उसने बहुत वैभव प्राप्त किया ।

वीरदास (पासकीर्ति)

औरंगाबाद में बलात्कारगण के भट्टारक होने के बाद वीरदास पासकीर्ति नाम से अलंकृत हुये । वे सैतवाल समाज के मूर्धन्य श्रावक थे । उनके गुरु का नाम धर्मचन्द्र था जो कारंजा के बलात्कारगण के पीठ पर सं. 1684 से 1704 के बीच आसीन रहे । इन्होंने इनसे मुनिदीक्षा ग्रहण की और स्वयं पासकीर्ति नाम पाया । उन्होंने सं. 1686 में रामटेक में कलिकुण्डयन्त्र की स्थापना की और शक सं. 1569 में बालापुर में एक मूर्ति को प्रतिष्ठापित किया । मूर्ति के अभिलेख में उन्हें धर्माचार्य कहा गया । इसी समय औरंगाबाद में बलात्कार पीठ की ओर से एक भट्टारक पीठ की स्थापना हुई जहां वीरदास को प्रथम भट्टारक के रूप में चुना गया ।

वीरदास द्वारा रचित ग्रन्थों में सुदर्शनचरित्र, बहुतरी, नवकार मंत्र प्रकृती, नेमिनाथ बरहांड, ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं । **सुदर्शनचरित्र** ब्रह्मजिनदास के सुदर्शनरास के आधार पर लिखा गया है । इसमें 25 अधिकार हैं जिनमें 1650 ओबी हैं । इस पर कामराज के ग्रन्थ का भी अच्छा प्रभाव दिखाई देता है ।

बहुतरी में 32 ओवी हैं । **नवकार मन्त्र** में 22 ओवी हैं । **नेमिनाथ वरहाड** में 40 कडवक हैं ।

दामा पण्डित

दामा पण्डित का समय साधारणतः शक सं. 1572 से 1615 के बीच माना जाता है । उनके दो ग्रन्थ मिलते हैं – जम्बूस्वामीचरित्र और दानशीलतप भावना । **जम्बूस्वामी चरित्र** में 16 अधिकार हैं और 1915 ओवी हैं । इसमें जम्बूस्वामी का चरित्र विस्तार से दिया गया है और संसार की निस्सारता का सोदाहरण वर्णन किया गया है । दान शील तपभावना में चार अधिकार और 468 ओबी हैं ।

भानुकीर्ति

भानुकीर्ति औरंगाबाद पीठ के दूसरे भट्टारक हैं । धर्मचंद्र भट्टारक ने सुदर्शनचरित्र के कर्ता वीरदास को मुनि दीक्षा दी और उन्हें पासकीर्ति नाम दिया। उनके बाद धर्मभूषण ने भानुकीर्ति को औरंगाबाद पीठ पर आसीन किया । धर्मभूषण कारंजा पीठ पर सन् 1650–1675 तक रहे । लगभग यही समय भानुकीर्ति का होना चाहिए ।

भानुकीर्ति की स्वयं की कोई विशेष रचनायें नहीं हैं । किन्तु उन्होंने दामा पण्डित की अपूर्ण रचनाओं को अवश्य पूरा किया है । दामा पण्डित के शिष्य अमरसागर ने कतिपय रचनाओं का उल्लेख भी किया है, उनमें प्रमुख हैं – 1) तनना तनना आनन्द माझे मना, 2) जये जये पारीस्वनाथा । तुझीया चरनी माझा माया 3) म्हणे भानकीर्ति लाधोनी आहे – इसमें 14 कडवकों में वैराग्य भावना भरी हुई है 4) भानकीर्ति मुनि 5) **पूजीती भव्यप्रानी** – इसमें 7 कडवक वैराग्य विषय परक हैं। वैराग्य भावनापरक कडवक की एक झलक देखिए–

"जयाची गुरु गमी सोहे । तोचि प्रेम भावें पाहें ।
नमनीं प्रकास राहे । म्हणे भानकीर्त लाधोनी लाहे ।।
चीतिं चैतन्य राहे । गुरुमूर्ति ज्ञानाची सोहे ।
पंच समेती प्रेम सोहे । म्हने भानकीर्ति लाधोनी लाहे" ।।

दयासागर

दयासागर भानुकीर्ति के शिष्य थे । बाद में वे दयाभूषण के नाम से प्रसिद्ध हुए। दयासागर के ग्रन्थों में प्रमुख ग्रन्थ हैं – सम्यक्त्व कौमुदी, भविष्यदत्त बंधुदत्तपुराण एवं धर्मामृत पुराण।

सम्यक्त्व कौमुदी में 11 अधिकार हैं और उनमें 2380 ओवी हैं । जैनधर्म में आस्था जाग्रत करने और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए इस ग्रन्थ में कुछ कथायें लिखी गई हैं । यमदण्ड कोतवाल और वृषभदास सेठ की आठ पत्नियों की कथायें ऐसी ही कथायें हैं जिन्हें राजा के प्रधानमन्त्री ने राजा को सुनाई ताकि राजा रानी के वियोग को सह सके । इस ग्रन्थ में इसी सन्दर्भ में अनेक लोककथा, चातुर्यकथा, उपदेशकथा भी एकत्रित किये हैं जो मूलतः वैराग्यमूलक हैं ।

भविष्यदत्त बन्धुदत्त पुराण की ओवीसंख्या 1389 है और उसमें दस अधिकार हैं । इसमें भविष्यदत्त की कथा है । भविष्यदत्त और बन्धुदत्त व्यापार के निमित्त रत्नद्वीप जाते हैं । वहां बन्धुदत्त के मन में स्वार्थ जाग्रत हो जाता है और भविष्यदत्त का धन लेकर भाग जाता है । निर्धन भविष्यदत्त के ऊपर अनेक संकट आते है पर वह जैनधर्म के सिद्धान्तों पर अविचल खडा रहता है । अन्त में उसी आस्था के बल पर उसका कल्याण होता है।

धर्मामृतपुराण में 10 अध्याय हैं । संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर यह लिखा गया है । सम्यक्त्व के निःशंकित आदि आठ अंगों में प्रसिद्ध अंजनचोर, अनंतमती, उद्दायन राजा, रेवती रानी, जिनेन्द्र भक्त सेठ, वारिषेण, नीलीकुमारी, और जयकुमार की कथायें इसमें संयोजित की गई हैं ।

चिमना पण्डित

चिमना पण्डित पैठन के वस्तीग्राम के निवासी थे । वे लोकसाहित्य के कुशल ज्ञाता थे और संगीत के मर्मज्ञ भी । एकनाथ भी पैठण के ही निवासी थे। चिमन पर उनका प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है । भक्तिरस से सरावोर होकर उन्होंने तीर्थवन्दना की और फिर उसी पर अपनी रचनायें लिखीं । अजितकीर्ति का उल्लेख उन्होंने अपने गुरु के रूप में किया है। अजितकीर्ति धर्मभूषण के शिष्य थे । लातूर भट्टारक परम्परा से ये सभी लेखक जुडे हुए थे । शक सं. 1573 में अजितकीर्ति ने बालापुर में एक मूर्ति स्थापित की थी । अतः हम चिमना पण्डित का समय लगभग सत्रहवीं शताब्दी का मध्यकाल निश्चित कर सकते हैं ।

चिमना पण्डित की लगभग बीस रचनायें उपलब्ध होती हैं – अनन्तव्रत कथा, तीर्थवन्दना, त्रिकाल तीर्थंकर पूजा, गोमट्टस्वामी स्तोत्र, नेमीश्वर पालणा, मातेची सो स्वप्न, गुरुगीत, भूपाली, नेमिनाथ भवांतरपद, फुगडी, झंपा, पिंगा, लाखोटा, चेंडुफली, टिपरी 2, बालक छाटीपद, आदिनाथ आरती, चन्द्रनाथ आरती, चिंतामणि पार्श्वनाथ आरती, आदि । कुछ हिन्दी पद भी मिलते हैं ।

अनन्त व्रतकथा की रचना प्रतिष्ठान नगर के चंद्रप्रभ जिनालय में रहकर हुई थी । इसमें कुल आठ चरणों में 58 कडवक हैं । **तीर्थवन्दना** में 36

कडवक हैं । **गोमट्टस्वामी** स्तोत्र में छह ओवी हैं । **नेमीश्वर पालणा** 18 गीतों का है । **भूपाली** में सात ओवी हैं । **नेमिनाथ भवान्तरपद** 11 कडवकों का है। इसी तरह **फुगडी** में 3, **पिंगा** में 4, **लयलाखोटा** में 5, **चेंडुफली** में 11, **टिपरी** में 10, **बालकघाटी** में 11, **आदिनाथ** आरती में 6, **चंद्रनाथ** आरती में 5, और **चिन्तामणि पार्श्वनाथ** में 5 कडवक हैं ।

मुनिसुव्रत विनती में पैठण के मालातीर्थ का इतिहास दिया गया है। तदनुसार चांगदत्त साहु के स्वप्न में रावणकालीन जिनप्रतिमा आई । बाद में उसके ऊपर उस ने माला चढाई । इसलिए उसका नाम मालातीर्थ पड गया ।

ब्रह्म पुण्यसागर

ब्रह्म पुण्य सागर लातूर भट्टारक पीठ से संबद्ध रहे हैं । वे अजितकीर्ति के शिष्य थे । पुण्यसागर ने रविवारं कथा की रचना शक सं. 1610 में की। इसलिए उनका समय 17 वीं शती का मध्यकाल माना जा सकता है ।

ब्रह्म पुण्यसागर की दो रचनायें मिलती हैं । प्रथम **हरिवंशपुराण** है जिसमें 67 अध्याय है । इनमें 55 अध्याय जिनदास द्वारा रचित हैं । शेष अध्यायों के रचयिता ब्रह्म पुण्यसागर हैं । **रविवारकथा** में 332 ओवी हैं जिनमें रविवार व्रत करने की पद्धति बतायी गयी है ।

विशालकीर्ति

विशालकीर्ति अजितकीर्ति के शिष्य थे । वे लातूर की भट्टारक पीठ पर शक सं. 1573 के आसपास आसीन थे । शक सं. 1592 में उन्होंने नन्दीश्वर की मूर्ति स्थापित की थी । अतः उनका यही समय निश्चित है।

विशालकीर्ति का मात्र एक ही ग्रन्थ मिलता है – **रुक्मणिव्रतकथा**। कहा जाता है, रुक्मणि ने अपने पूर्वजन्म में दिगम्बर मुनि की निन्दा की थी जिसके फलस्वरूप उसे बहुत दुःख उठाने पडे । उसने फिर व्रत किये और अपनी कर्म–निर्जरा की । इसी व्रत की विधि यहां बताई गई है । इसमें 152 ओवी हैं।

पंत सावाजी

विशालकीर्ति के शिष्य पंत सावाजी थे जिनका समय सन् 1665 के आसपास निश्चित किया जा सकता है । उनका एक ही ग्रन्थ मिलता है – **सुगंध दशमी व्रतकथा** । इसमें 261 ओवी हैं । मराठी में इस विषय पर लिखा गया यह पहला ग्रन्थ है । इस कथा के अनुसार श्रीमती नाम की रानी ने दिगम्बर मुनि को कडुवा और विषैला आहार दिया । फलतः उसे तीव्र दुःख भोगना पडा । शरीर दुर्गन्धित हुआ। भैंस, सूकर आदि रूप में जन्म लेने के बाद वह चाण्डाल के घर लडकी हुई । उस जन्म में भी उसका शरीर अत्यन्त दुर्गन्धित रहा । श्रुतसागर मुनि ने उसे इसका कारण बताया । तब उसने अष्टमूलगुण का पालन कर सुदर्शन मुनि के समक्ष सुगंधदशमी व्रत करने की प्रतिज्ञा की । इस ग्रन्थ में उसी की विधि बताई गई है ।

विशाल कीर्ति

प्रस्तुत विशालकीर्ति अजितकीर्ति के शिष्य विशालकीर्ति से पृथक् हैं। ये देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे । परन्तु ये देवेन्द्रकीर्ति कौन थे, यह स्पष्ट नहीं है । कारंजा भट्टारक परम्परा में देवेन्द्रकीर्ति नाम के दो भट्टारक हुए पर उनके शिष्यों में विशालकीर्ति नामक शिष्य दिखाई नहीं देता । परन्तु यह निश्चित है कि उनका समय शक सं. 1610 के पूर्व था क्योंकि उनकी कृति धर्मपरीक्षा की एक प्रति शक सं. 1610 की लिखी प्राप्त हुई है।

धर्मपरीक्षा में अन्य धर्मों की परीक्षा करते हुए जैनधर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप में स्थापित किया है । जैन समाज में यह कथा बहुत प्रचलित रही है। प्राकृत–संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में इस कथा पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । जिनरत्नकोश में इस विषय पर 11 ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है । प्रस्तुत ग्रन्थ में 5 अधिकार हैं और 958 ओवी हैं ।

पद्मकीर्ति

पद्मकीर्ति लातूर पीठ की दूसरी शाखा के भट्टारक थे । वे विशालकीर्ति के शिष्य थे । उन्होंने शक सं. 1601 और 1607 के बीच जिनमूर्ति स्थापित की।

उनकी मात्र एक ही लघु रचना प्राप्त होती है, **पार्श्वनाथ आरती** । उसमें 5 कडवक हैं । चक्रपुर नगर के पार्श्वनाथ चैत्यालय में इसकी रचना हुई थी । पद्मकीर्ति का समय सन् 1679 के आसपास माना जा सकता है।

मल्लाजीपुत्र राय

मल्लाजी के पुत्र राय ने शक सं. 1606 में **जिनवर विनती** नामक एक ही रचना लिखी है । उसमें 16 कडवक हैं जो भक्ति रस से आपूर्ण हैं।

रत्नसा

रत्नसा देवलगांव के निवासी वघेरवाल जाति के साहु गोत्र के कवि थे। सेनगण परम्परा से वे सम्बद्ध रहे हैं । वे पोथी लेखक के रूप में अधिक विख्यात थे । उनका मात्र एक ही ग्रन्थ मिलता है – **जम्बूस्वामी चरित्र** । इसमें 24 अधिकार हैं जिनमें 14 अधिकार दयाभूषणकृत है और शेष के लेखक रत्नसा हैं ।

गंगादास

गंगादास मूलतः गुजराती थे पर गुरु भट्टारक धर्मचन्द्र की आज्ञा से उन्होंने मराठी में भी रचनाएँ कीं । धर्मचन्द्र सं. 1742 से 1749 के बीच बलात्कारगणीय कारंजा पीठ पर आसीन थे । उन्होंने शक सं. 1642 में **'पार्श्वनाथ भवान्तर'** की रचना की जिसमें 47 कडवक हैं । इसके अतिरिक्त **चक्रवर्तीचा पालणा** नामक एक और रचना मिलती है जिसमें आदिनाथ तीर्थंकर की पटरानी सुनन्दा अपने सुपुत्र भरत चक्रवर्ती का पालणा गीत गा रही हैं । इसमें 21 कडवक हैं ।

महीचन्द्र

17 वीं शती के मध्यभाग में कारंजा के भट्टारक पीठ की एक स्वतन्त्र शाखा लातूर में स्थापित हुई । इसे हम सैतवाल समाज की मुख्य पीठ कह सकते हैं । यहां विशालकीर्ति, पद्मकीर्ति आदि अनेक कुशल साहित्यकार हुए हैं । महीचन्द्र उनमें सर्व प्रमुख हैं । महीचन्द्र के गुरु विशालकीर्ति थे । महीचंद्र का

विशाल शिष्य मण्डल था जिनमें महाकीर्ति, ब्रह्मचिन्तामणि, रामकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति प्रमुख रहे हैं ।

महीचन्द्र एक कुशल साहित्यकार थे । उन्होंने मराठी में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं – आदिनाथपुराण, सम्यक्त्व कौमुदी आदि । **आदिनाथपुराण** में 15 अध्याय हैं । इसकी रचना ब्रह्मजिनदास के आदिनाथरास के आधार पर हुई है । इसकी ओवी संख्या है 3253 । **सम्यक्त्व कौमुदी** संस्कृत भाषा का रूपान्तरण है जिसमें 1681 ओवी है । इसी तरह नन्दीश्वर कथा (150 ओवी), गरुड पंचमी कथा (91 ओवी), नेमिनाथ भावान्तर (71 कडवक), शान्तिनाथ स्तोत्र (11 श्लोक), नेमिश्वर गीत (10 कडवक), महावीर पालणा (16 कडवक), चूडचिन्तामणि आरती, अरिहंत आरती आदि और भी अनेक रचनायें हैं जो महीचन्द्र की प्रतिभा का प्रमाण हैं ।

महाकीर्ति

महाकीर्ति महीचन्द्र के शिष्य थे । उनकी एक ही रचना मिलती है – **शीलपताका** अथवा **शीलतरंगिणी** पुराण । उसमें 552 ओवी हैं । इसकी रचना ब्रह्मजिनदास की गुजराती रचना के आधार पर हुई है ।

अन्य कवि

इनके अतिरिक्त गुणकीर्ति का **पद्मपुराण** उल्लेखनीय है जिसके 27 अध्याय उन्होंने स्वयं लिखे । उसके 28 वें अध्याय से 35 वें अध्याय तक के रचयिता ब्रह्मचिन्तामणि हैं । इन अध्यायों में कुलभूषण देशभूषणकथा, चन्द्रनखाशुद्धि जटायुकथा, राम का अयोध्या में आगमन आदि भाग समाहित है । रामकीर्ति की पद्मावती आरती (14 कडवक) और पुण्यसागर का पद्मपुराण भी इसी काल में आते हैं । इसी काल में मुक्तेश्वर, रामदास, तुकाराम, वामन पण्डित, रघुनाथ पण्डित, सामराज आदि अनेक जैनेतर साहित्य के निर्माता हुए हैं ।

पुण्यसागर नाम के दो कवि हुए हैं एक औरंगाबाद भट्टारक पीठ के पुण्यसागर जो आनन्दसागर के शिष्य थे । और दूसरे पुण्यसागर लातूर पीठ के अधिष्ठाता थे जो अजितकीर्ति के शिष्य थे । उनका समय शक सं. 157 के आसपास है । उन्होंने हरिवंशपुराण की रचना की थी ।

आनन्दसागर के शिष्य पुण्यसागर ने गुणकीर्ति कृत पद्मपुराण को पूरा किया । इसके 44 अध्यायों में अन्तिम आठ अध्याय पुण्यसागर ने लिखे। इन आठ अध्यायों में शत्रुघ्नभवान्तर, सीताकलंक, लव–कुश जन्म, राम–सीता भेंट, हनुमंत दीक्षा, लक्ष्मण मृत्यु, लव–कुश निर्वाण, राम निर्वाण आदि कथानकों का समावेश हुआ है ।

पुण्यसागर ने ग्रन्थ के अन्त में जो गुरु परम्परा दी है उसके अनुसार भानुकीर्ति, दयाभूषण, विजयकीर्ति, भुवनकीर्ति, आनन्दसागर और पुण्यसागर यह परम्परा रही है । इसमें से विजयकीर्ति की परम्परा दयाभूषणकृत सम्यक्त्वकौमुदी में उल्लेखित हुई है । सम्यक्त्वकौमुदी की एक प्रति शक सं. 1610 की उपलब्ध है। भुवनकीर्ति के इस ग्रन्थ को पुण्यसागर ने पूरा किया था । रत्नसा के 1615 में लिखे ग्रन्थ में भुवनकीर्ति के नाम का उल्लेख नहीं है । अतः पुण्यसागर का समय शक सं. 1600 और 1650 के बीच रखा जा सकता है ।

17 वीं शताब्दी में लातूर में बलात्कारगण भट्टारक पीठ की परम्परा बड़ी समृद्ध रही है । अभयकीर्ति, विशालकीर्ति, पद्मकीर्ति, महीचन्द्र, महाकीर्ति जैसे ग्रन्थलेखक भट्टारक इसी परम्परा में हुए हैं । इसी शतक में सुदर्शनचरित्र के रचयिता वीरदास पार्श्वकीर्ति नाम के भट्टारक हुए और उन्होंने औरंगाबाद में नवीन भट्टारकपीठ का निर्माण किया । वे स्वयं अनेक ग्रन्थों के रचयिता रहे । उनके बाद भानुकीर्ति और दयाभूषण ने मराठी में काफी ग्रन्थ लिखे ।

वीरदासकृत सुदर्शनचरित्र, दामापंडितकृत जम्बूस्वामी चरित्र व दानशील तप भावना, दयासागरकृत धर्मामृतपुराण, दयाभूषणकृत सम्यक्त्वकौमुदी व भविष्यदत्त बंधुदत्तपुराण एवं महीचन्द्रकृत आदिपुराण केवल धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं ।

इस शतक में व्रतकथाओं और आरतियों की संख्या अधिक दिखाई देती है । इसका मूलकारण था भट्टारक युग और उसका भक्ति तत्त्व । चिमना पण्डित का सम्पूर्ण वाङ्मय उसी का परिणाम था।

१८ वीं शती के साहित्यकार

17 वीं शती की अपेक्षा 18 वीं शती में मराठी जैन साहित्य अधिक समृद्ध

हुआ । इस काल में भट्टारक परम्परा का विकास हुआ और इससे ग्रन्थ निर्माण का परिमाण बढा । कारंजा के भट्टारकों ने शिरडशहापूर में भी अपना कार्यक्षेत्र बढाया और ग्रन्थ रचना की प्रेरणा दी । जैनेतर सम्प्रदायों का मराठी साहित्य भी देखने का अवसर उन्हें मिला और तदनुसार अपनी प्रतिभा के बल पर ग्रन्थ रचना की । ऐसे ग्रन्थ रचनाकारों में देवेन्द्रकीर्ति, जिनसागर और जनार्दन का नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

देवेन्द्रकीर्ति

भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति इस काल के प्रमुख ग्रन्थकार रहे हैं । उनका प्रमुख ग्रन्थ है – कालिकापुराण । इस पुराण में रचनाकार ने अनेक पौराणिक, सामाजिक और ऐतिहासिक आख्यानों और घटनाओं का संकलन किया है । महीचन्द्र का समय सन् 1696 ई. के लगभग निश्चित किया गया है । अतः इसके बाद ही देवेन्द्रकीर्ति का समय निर्धारण होता है ।

कालिका पुराण – कालिका का तात्पर्य है पद्मावती । इस ग्रन्थ में पद्मावती का महात्म्य वर्णन विस्तार से दिया गया है । इसमें 48 अध्याय हैं और लगभग 7000 ओवी हैं । शिरडशहापूर के मल्लिनाथ जैन मन्दिर में इसकी प्रति सुरक्षित है । इसकी प्रशस्ति के अनुसार देवेन्द्रकीर्ति मूलसंघ के अन्तर्गत बलात्कारगण के भट्टारक थे । उन्होंने इस ग्रन्थ को श्रावणमाह के शुक्लपक्ष के शुक्रवार के दिन पूर्ण किया, पर शक सं. का निर्धारण करना सरल नहीं है ।

यह देवेन्द्रकीर्ति 'सिद्धान्तवाणी देवेन्द्रकीर्ति' के नाम से विश्रुत रहे हैं। उन्होंने महापद्मपुराण ग्रन्थ के आधार से इसकी रचना की है । संस्कृत भाषा में उपलब्ध पद्मपुराण की रचना रविषेणाचार्य ने की है परन्तु उसमें कालिका की कथा दिखाई नहीं देती ।

कालिका पुराण में सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मपरीक्षा और अनन्तव्रत कथा अनावश्यक रूप से समाहित की गई हैं । 22 से 31 अध्याय तक सम्यक्त्व–कौमुदी, 32 से 38 अध्याय तक धर्मपरीक्षा और 47 वें अध्याय में अनन्तव्रत कथा का समावेश है । प्रथम आठ प्रकरणों में श्रेणिकराजकथा, चतुर्थपंचमकाल वर्णन, कुलकर व्यवस्था, महाबलराजा कथा, सोमवंश की उत्पत्ति, 96 वें कुलों की निर्मिति,

9 से 13 वें अध्यायों में कौरव पाण्ड़वों की उत्पत्ति, परशुराम की कथा और माहोर क्षेत्र का निर्माण बताया गया है। बाकी के अध्यायों में वोगार तथा उनके लिंगायत विचार तथा मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन मिलता है ।

वस्तुतः यह पुराण मध्ययुगीन जैन समाज की स्थिति का परिचय कराता है । दक्षिण भारत में सोमवंशी कासार–वोगार समाजों की उत्पत्ति और उनकी स्थिति, मुस्लिम आक्रमणों से जैन व हिन्दु समाज को उस काल में कितना दुःख भोगना पडा इसका वर्णन इस पुराण में उपलब्ध है। छोटा मोटा व्यापार कर अपने उदर–पोषण में लगी हुई लोहार, सुनार, सुतार आदि जातियों के बीच कालिका की अच्छी प्रतिष्ठा रही है । इन जातियों की कुलदेवी के रूप में पद्मावती का उल्लेख कालिकापुराण में आया है ।

दक्षिण में लिंगायत और जैन समाज के बीच काफी संघर्ष रहा है। ये दोनों समाज न्याय पाने के लिए तथा अपने धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए मुसलमान सुल्तानों के पास जाया करते थे । बीजापुर के निलंगा, तगरखेडा आदि भागों में घटित घटनाओं का उल्लेख भी इसमें हुआ है । दक्षिण में श्रवणबेलगोला से लेकर उत्तर में कारंजा पर्यन्त भूभाग में जैन समाज के बीच क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखाई देते हैं । कर्नाटक और महाराष्ट्र में हुए इस परिवर्तन का आकलन कालिकापुराण से लिया जा सकता है । इसमें वोगार जाति का लिंगायतों से विरोध और वोगारों में फैले आन्तरिक विरोध पर अच्छा प्रकाश डाला गया है ।

छत्रसेन (ई. सन् १७०३)

सेनगण की कारंजा शाखा परम्परा में एक छत्रसेन नामक भट्टारक हुए हैं जिन्होंने सं. 1754 (सन् 1697) में पार्श्वनाथ मूर्ति की स्थापना की। वे कारंजा में ही रहे और उन्होंने संस्कृत, हिन्दी तथा मराठी में रचनायें लिखी। मेरुपूजा, पार्श्वनाथपूजा, झूलना, अनन्तनाथ स्तोत्र पद्मावती स्तोत्र आदि जैसी अनेक रचनायें संस्कृत और द्रोपदीहरण, समवशरण, षट्पदी, झूलना जैसी रचनाएं हिन्दी में उपलब्ध होती हैं । अर्जुनसुत, बिहारी और हीरा छत्रसेन के शिष्य थे जिनकी कुछ हिन्दी रचनाएं उपलब्ध हैं ।

सन् 1703 में लिखी छत्रसेन की तीन रचनायें मराठी में भी मिलती हैं – आदीश्वर भवान्तर, तथा सरस्वती आरती और नंदीश्वर आरती । **आदीश्वर भवान्तर** में 67 कडवक हैं जिनमें आदिनाथ के पूर्व भवों का वर्णन है । यह वर्णन जिनसेन के आदिपुराण के आधार पर किया गया है – **वरणन महापुराणीं । इथें नाम वरणन** (59) ।

काव्य के अन्त में मूलसंघीय सेनगण, पुष्करगच्छ और उसमें हुए सोमसेन, जिनसेन और समन्तभद्र की गुरुपरम्परा का उल्लेख हुआ है और यह भी लिखा है कि कुन्तलदेश में कागल नगर में शान्तिनाथ जैन मन्दिर में शक सं. 1625 में हुए चातुर्मास काल में छत्रसेन ने यह काव्यकृति लिखी।

सरस्वती आरती में पांच कडवक हैं जिनमें द्वादशांगवाणी की आरती की गई है । उसे सरस्वती का रूप देकर हंस वाहिनी और सोलाभरण भूषित आदि के रूप में स्तुति की गई है । नंदीश्वर आरती त्रुटित रूप में ही उपलब्ध हुई है ।

सटवा (ई. सन् १७१८)

सटवा के गुरु महीभूषण थे और महीभूषण लातूर के भट्टारक महीचन्द्र के शिष्य थे । इन्हीं महीभूषण ने शक सं. 1640 में वैशाख कृष्णा पंचमी को 'पद्मावती सहस्रनाम' की प्रति कारंजा में की थी । इस आधार पर कह सकते हैं कि सटवा का काल शक सं. 1640 (सन् 1718) के बाद आता है ।

सटवा की दो रचनायें मराठी में मिलती हैं – शिवानेमि संवाद और कंसाचे पद । तीसरी रचना 'गज छोड चलो गिरिनारी' नामक रचना हिन्दी में उपलब्ध हैं । **'शिवानेमि संवाद** में 20 कडवक हैं । इनमें लम्बे गीत हैं जिनमें माता शिवा नेमिनाथ से दीक्षा न लेने का आग्रह करती हैं और नेमिनाथ अपने निर्णय को अटल बताते हैं । दोनों के बीच हुए इस संवाद में रोचकता दिखाई देती है ।

'कंसाचे पद' में 8 कडवक हैं जिनमें कंस श्रीकृष्ण को किस तरह मारने का प्रयत्न करते हैं, यह बतलाया है । गीत के अन्त में गुरु महीभूषण का उल्लेख है ।

नीवा

इनका समय लगभग सन् 1726 है । आपके दो गीत शक सं. 1648 के

हस्तलिखित रूप में प्राप्त हुए हैं । एक गीत है **अहिराणी गीत** जिसमें अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की स्तुति 5 कडवकों में की गई है और दूसरा गीत है **नेमिश्वर गीत** जो कि 3 कडवकों में लिखा गया है ।

यादवसुत (सन् १७१८)

यादवसुत ने अपने गुरु का नाम गुणाब्धिकीर्ति अर्थात् गुणसागर बताया है पर ये गुणसागर कौन थे ? यह स्पष्ट नहीं हो सका । भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य गुणसागर ने शक सं. 1640 में **'मेरु की आरती'** नामक एक रचना लिखी थी । यदि वही गुणसागर यादवसुत के गुरु थे तो यादवसुत का समय शक सं. 1640 के आसपास होना चाहिए ।

यादवसुत का एक ही ग्रन्थ मिलता है **'अष्टकर्मप्रकृति'** । इसमें 222 श्लोक हैं और 8 अध्याय हैं । ग्रन्थ की भाषा प्रांजल है । इसमें ज्ञानावरणादि कर्मों का वर्णन दर्शन शास्त्र की दृष्टि से किया गया है ।

माणिकनंदी (सन् १७२४)

माणिकनन्दी ने अपने गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति बतलाया है। यह देवेन्द्रकीर्ति कारंजा पीठ के भट्टारक थे । जिनसागर नाम के एक और उनके शिष्य का उल्लेख मिलता है । माणिकनन्दी की पांच रचनायें उपलब्ध होती हैं – अनन्तनाथ आरती (5 कडवक), चन्द्रनाथ आरती (5 कडवक), और समवशरण आरती (4 कडवक), गुरु आरती (4 कडवक) और शीतलनाथ आरती (4 कडवक)। इन पाँचों की भाषा काव्यमयी है और संस्कृत पद्धति में लिखी गई हैं। अनन्तनाथ आरती में शक सं. 1646 का उल्लेख है ।

जिनसागर (ई. सन् १७२४ - १७४४)

जिनसागर के गुरु देवेन्द्रकीर्ति एक बहुश्रुत भट्टारक थे । कारंजा और मराठवाडा का शहापुर ये दो नगर उनके कार्य क्षेत्र थे । जिनसागर ने भी इन्हीं को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । सन् 1744 तक वे ग्रन्थरचना करते रहे । बीजापुर में उनकी शिष्यपरम्परा ने अपना कार्यक्षेत्र बनाया था ऐसा जिंतूर के हस्तलिखित ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है ।

भट्टारक जिनसागर कुशलसाहित्य सृष्टा थे । उन्होंने मराठी हिन्दी और संस्कृत में अपनी काव्य रचना की । आदित्यव्रतकथा, अनंतव्रतकथा (73 पद्य), निर्दोषसप्तमी कथा (173 पद्य), पुष्पांजली कथा (102 पद्य), कलशदशमी कथा (49 पद्य), सुगंधदशमीकथा (136 पद्य), लहु अंकुशकथा (79 पद्य), पद्मावती कथा (65 पद्य), जिनागमकथा (212 ओळी), कयको, ज्येष्ठजिनवर पूजा, नंदीश्वर पूजा, नवग्रह पूजा, भक्तामर स्तोत्र (50 पद्य), आदिनाथ स्तोत्र (10 पद्य), शान्तिनाथ स्तोत्र (10 पद्य), पार्श्वनाथ स्तोत्र (18 पद्य), वीतराग स्तोत्र (29 पद्य), पद्मावती स्तोत्र (14 पद्य), क्षेत्रपाल स्तोत्र (9 पद्य), शान्तिनाथ आरती (3 पद्य), महावीर आरती (5 पद्य), सरस्वती आरती (5 पद्य), दशलक्षणधर्म आरती (6–7 पद्य), पद्मावती आरती (4–5 पद्य) और जीवंधरपुराण ।

जिनसागर ने इस प्रकार के बहुविध ग्रन्थ लिखकर जैनधर्म का अच्छा प्रचार–प्रसार किया । सन् 1724 में लिखी प्रथम कृति **आदित्यव्रतकथा** (46 पद्य) और सन् 1744 में लिखी अन्तिम कृति **जीवंधर पुराण** थी । इस प्रकार लगभग 20 वर्ष तक अविराम रूप से उनकी लेखनी चलती रही और पच्चीस के आसपास उन्होंने अपनी सशक्त रचनाएं सौंप दीं । डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने उनकी समग्र कृतियों पर 'जिनसागर यांची समग्र कविता' नामक विस्तृत प्रस्तावना सहित एक ग्रन्थ लिखा जिसका प्रकाशन जीवराज जैन ग्रन्थमाला सोलापुर सन् 1959 में हुआ था ।

जिनसागर ने व्रतकथाओं में प्रायः महिला वर्ग का ध्यान रखा है । उन्हें किस प्रकार के व्रतों का पालन करना चाहिए और कैसे करना चाहिए ? इसका विशेष वर्णन किया है । जैसे निर्दोष सप्तमी कथा में भाग्यवती स्त्री का वर्णन है, पुष्पांजलिकथा में माता की मृत्युपर उपदेश दिया गया है, सुगन्धदशमी कथा में अनेक बाधाओं के बावजूद सुगंधा का विवाह राजा के साथ हुआ ।

कथाओं में लहुअंकुशकथा काव्यतत्त्व की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। जीवंधर पुराण में दस अध्याय हैं और 1530 ओवी संख्या है । गुणभद्राचार्य के उत्तरपुराण के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है । जैन साहित्य में जीवन्धर कथा पर क्षत्रचूडामणि, जीवन्धरचम्पू आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । जीवंधर तीर्थंकर महावीर के समकालीन थे । उन्होंने महावीर से दीक्षा भी ली थी ।

लक्ष्मीचन्द्र (सन् १७२८)

लक्ष्मीचंद्र की दो रचनायें उपलब्ध हैं – मेघमालाव्रतकथा और जिनरात्रीव्रतकथा । **मेघमालाव्रतकथा** में कुल 69 ओवी हैं । यह रचना कवि ने शक सं. 1650 में मान (मानवत) के चंद्रप्रभ जिनालय में पूरी की। यह व्रत भाद्रपद के पहले पांच दिन में किया जाता है । वत्सराज श्रेष्ठी को इस व्रत के पालने से कौन–सा फल मिला इसकी भी इसमें चर्चा की गई है । श्रुतसागरकृत 'मेघमालाव्रत कथा' (संस्कृत) के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है ।

जिनरात्रिव्रत कथा में 158 ओवी हैं । इसके अनुसार मरीचि के जीव ने सिंहभव में चारणमुनि से यह व्रत ग्रहण किया था । फलस्वरूप उसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध बांधा और महावीर हुआ । यह व्रत 14 वर्ष तक किया जा सकता है ।

अर्जुनसुत-सोयरा (सन् १७४६) और सया (सन् १७३८)

अर्जुनसुत और सोयरा ये दो नाम कदाचित् एक ही हैं । इनकी अभी तक एक ही रचना मिली है – **कर्माष्टमी कथा** । इसमें 117 ओवी हैं । लगता है, मूल लेखक कन्नड भाषी रहे होंगे । प्रशस्ति के अनुसार उन्होंने यह कथा कन्नड भाषा से मराठी में अनुदित की है । इसकी रचना सं. 1802 में पूरी हुई ।

अर्जुनसुत और सोयरा के गुरु का नाम समन्तभद्र था । वे देउळगांव के वघेरवाल जाति के चवरिया गोत्र के कवि थे । उन्होंने प्रशस्ति में चन्द्रप्रभ मूर्ति का उल्लेख किया है और स्वयं को देउलगांव का निवासी बताया है । **सुपार्श्वनाथ आरती** (8 पद्य) और **कैलाश छप्पय** ये दो सोयरा की रचनायें हैं। इसी तरह सया की दो रचनाएं उपलब्ध हैं – **चौबीस तीर्थंकर स्तुति** (26 पद्य) और **नेमिनाथ भवान्तर** (128 पद्य) ।

तानूपण्डित (सन् १७५१ के बाद)

तानू पंडित ने अपनी एक हिन्दी रचना में कारंजा के भट्टारक शान्तिसेन का उल्लेख किया है। शांतिसेन का समय शक सं. 1673 के आसपास माना जाता है । अतः तानू पंडित का भी समय लगभग यही होना चाहिए ।

तानू पंडित की पांच रचनायें मिलती हैं – समवशरण आरती (5 पद्य), पार्श्वनाथ आरती (11 पद्य) और क्षेत्रपाल आरती (7 पद्य), पद्मावती आरती (5 पद्य) और गुरु स्तुति ।

यमासा - अर्जुनसुत (ई. सन् १७५१)

यमासा–अर्जुनसुत की मात्र एक रचना मिली है – **रविवार व्रतकथा**। मराठी में वैसे चार रविव्रत कथायें उपलब्ध हैं जिनके लेखक हैं – पुण्यसागर, जिनसागर, यमासा और महती सागर । परन्तु इनमें यमासा की रचना साहित्य की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है । शार्दूलविक्रीडित छन्द में लिखी यह रचना काव्य सौष्ठव की दृष्टि से बेजोड है । इसमें कुल 326 श्लोक है । तत्कालीन विवाह पद्धति का भी उल्लेख इस कृति में विस्तार से हुआ है । इसकी रचना वत्सगुल्म (वासिम) में शक सं. 1673 में पूर्ण हुई। कवि ने अपने शिष्य सतूसा के लिए इस ग्रन्थ की रचना की । 'आदित्य अभिधान रास' इस काव्य का मूल नाम है ।

यमासा के पिता का नाम अर्जुनसा और पुत्र का नाम माणिकसा था। वे हिंगोली के निवासी थे । ऐसा पाण्डुलिपि के ऊपर लिखा मिलता है । यमासा के गुरु शांतिसेन सेनगण भट्टारक पीठ पर ई. सन् 1751 से 1759 तक आसीन थे। उनके बाद उस पीठ पर सिद्धसेन भट्टारक बने। यमासा ने एक स्थान पर उनकी प्रशंसा की है । शांतिसेन भट्टारक ने कारंजा में चन्द्रप्रभ एवं पार्श्वनाथ तीर्थंकरों की मूर्तियां स्थापित की थीं । अतः यमासा का समय ई. सन् 1751 के आसपास माना जाना चाहिए । कवि के नाम पर अन्य रचनाएं भी हैं – **पंच परमेष्ठी आरती (3 पद्य), पार्श्वनाथ आरती (6 पद्य), सुपार्श्वनाथ आरती (7 पद्य)**।

रतनसा (ई. सन् १७६९) और न्याहाल

रतनसा सिद्धसेन के शिष्य थे । उन्होंने अपने गुरु सिद्धसेन का चरित्र सिद्धसेन गुरु आरती में 10 कडवकों में लिखा है । इसकी रचना सं. 1826 में हुई। अन्य रचनाएं हैं – **जिनेश्वर आरती (5 पद्य), नेमिनाथ आरती (6 पद्य), तथा अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ आरती (4 पद्य)** । सिद्धसेन करवीर–कोल्हापुर और कारंजा में भट्टारक रहे हैं । **न्याहाल की गुरु आरती** (7 पद्य) नामक एक ही रचना मिलती है ।

दिनासा (ई. सन् १७७०)

दिनासा की दो रचनायें मिलती हैं – **वाद्मासी** (13 कडवक) और **'चिंती रे माझ्या मना'** (6 कडवक) । हिन्दी और गुजराती में बारहमासी एक प्रकार का लोकगीत है जिसमें विरहणी नायिका अपने बारह महिनों का संवेदनात्मक चित्रण करती है । प्रस्तुत वारहमासी में कवि ने राजमती के वियोग का सजीव चित्रण किया है । जिंतूर की प्रति में इसका लेखन शक सं. 1692 (सन् 1770) दिया हुआ है । दूसरी रचना **"चिंती रे माझ्या मना"** वैराग्यपरक है । कवि दिनासा का समय शक सं. 1692 के आसपास होना चाहिए। वे वघेरवाल जाति के थे ।

वृषभ

वृषभ कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य थे । आपके दो स्तोत्र उपलब्ध हैं – **चन्द्रप्रभ** (9 पद्य) और **पद्मावंती** (9 पद्य) । इनके अतिरिक्त **रविव्रतकथा** (हिन्दी) और **निर्दोष सप्तमी व्रतोद्यापन** (संस्कृत) ये दो और रचनाएं भी प्राप्त हुई हैं । कवि का समय सन् 1772–77 के आसपास निश्चित किया जा सकता है ।

राघव (ई. सन्. १७७० - १८३५)

रघु या राघव नामक कवि का समय डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने ई. सन् 1770 से 1835 तक निश्चित किया है । उनकी कोई विशेष रचना प्रकाश में नहीं आयी पर कतिपय पद्य प्रासंगिक रूप से अवश्य मिले हैं ।

नागपुर में वघेरवाल समाज की अच्छी संख्या है । भोसले राजघराने से उसे संरक्षण भी मिला था । भट्टारक गद्दी भी यहां थी । इसलिए पूजा–प्रतिष्ठा काफी लोकप्रिय बनी रही । राघव कवि ने **'वर्धासासेटि महात्म्य'** लिखकर वर्धासा नामक किसी श्रेष्ठी का परिचय दिया है जिसने जिनमंदिर का निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा कराई थी । इस पोवाडा में 11 कडवक हैं । इसमें कतिपय भोसले परिवार के सदस्यों का नामोल्लेख हैं और वर्धासा के परिवार से उनके सम्बन्ध का स्मरण किया गया है ।

सिद्धसेन स्तुति में राघव कवि ने भट्टारक सिद्धसेन की स्तुति की है और इस प्रसंग में कारंजा में हुई जिनमंदिर प्रतिष्ठा की चर्चा की है । कवि का एक पद णमोकारमन्त्र के महात्म्य पर भी लिखा मिलता है । कवि की अन्य रचनाएं हैं–**मुक्तागिरि पार्श्वनाथ आरती** (17 कडवक) और आदिनाथ **पंचकल्याणक स्तुति** । इनके अतिरिक्त 25 स्फुट पद्य भी मिलते हैं ।

इन सभी रचनाओं में राघव कवि ने सिद्धसेन, पद्मकीर्ति, विशालकीर्ति और महतीसागर इन चार गुरुओं का नामोल्लेख किया है ।

अनंतकीर्ति (ई. सन् १७७५)

अनन्तकीर्ति की एक ही रचना उपलब्ध हुई है – **दशलाक्षणिक व्रत कथा** । इसमें 188 ओवी हैं। गुजराती में लिखी गई ब्रह्मजिनदास कृत दशलाक्षणिकरास के आधार पर इस कृति की रचना हुई है। इसमें दशलक्षणव्रत के पालन की विधि और उसके फल का वर्णन किया गया है। नयपुर का राजा प्रियंकर, रानी प्रियंकरा और कन्या कमलसेना इन तीनों ने वन में मुनि से इस व्रत की विधि ग्रहण की थी।

अनन्तकीर्ति ने यह कथा जैसिंगपेठ के आदिनाथ मंदिर में लिखी। उनके गुरु का नाम चंद्रकीर्ति था । कवि ने इस कथा को शक सं. 1697 में पूरा किया। लातूर पीठ पर गुणकीर्ति के बाद चंद्रकीर्ति आसीन हुए । जनार्दन ने भी चन्द्रकीर्ति का उल्लेख किया है । उनकी भी रचना शक सं. 1697 में पूरी हुई ।

जनार्दन (ई. सन् १७७५)

जनार्दन अठारहवें शतक के उत्तरार्ध का एक उच्चकोटि का कवि हुआ है । उसका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है – **श्रेणिक चरित्र** । उसकी प्रशस्ति के अनुसार जनार्दन के गुरु का नाम चन्द्रकीर्ति था। कवि ने उनका उल्लेख 'रोहिणीकांत प्रदि सकलाकीर्ति (1.6), 'रजनीकांत षोडशकला कीर्ति' (1.161), 'रजनीकीर्ति' (4.42), 'निशाकीर्ति' (5.137) आदि नामों से किया है। स्वयं के लिए उसने 'शांतिसुत' संतसुत कहा है । वह शेतवाल जाति का था और चन्द्रकीर्ति के शिष्य माणिकनंदी से संबद्ध था । कवि ने अपनी यह रचना वासिम के पास

नहसी तालुका के शर्करा ग्राम में पूरी की । इसमें 40 अध्याय हैं और वे सभी सरस काव्यत्व से ओतप्रोत हैं ।

श्रेणिक चरित्र का लेखन कवि ने ब्रह्मगुणदास के श्रेणिक चरित्र के आधार पर किया । इसमें 40 अध्याय हैं । इसे पुराण काव्य कहा जाना चाहिए । ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त प्रौढ और श्रेष्ठ है । इसे उत्कृष्ट कोटि का काव्य कहा जा सकता है । श्रेणिक राजा के चरित्र का वर्णन करते समय नव रसों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

भीमचन्द्र (ई. सन् १७८१)

भीमचन्द्र लातूर के अनन्तकीर्ति के शिष्य थे । बाद में वे कारंजा के भट्टारकों में सम्मिलित हो गये । उनकी मात्र एक ही रचना उपलब्ध है –**गुरुची आरती** (6 कडवक) जो परम्परा के इतिहास को समेटे हुए है । इसमें कारंजा बलात्कार गणीय भट्टारकों का उल्लेख हुआ है । इसकी रचना सं. 1837 के आसपास हुई है ।

इनके अतिरिक्त महती सागर (ई. सन् 1772) की अभंग रचना, दयासागर (ई. सन् 1813) का हनुमान पुराण, रत्नकीर्ति (ई. सन् 1813) की उपदेश रत्नमाला, चन्द्रकीर्ति (ई. सन् 1816) का सम्मेदशिखर महात्म्य, जिनसेन (कोल्हापुर) (ई. सन् 1821) का जम्बूस्वामी पुराण दिलसुख (कारंजा) (ई. सन् 1823) का स्वात्मविचार, गिरीसुत (ई. सन् 1850) का पाण्डवपुराण, नीवा का अहिरणी गीत, तुकुजी (सोमवंशी) का कौतुकी, राया का सात आरत्या, बोप का तीर्थंकराची भूपाली और कवीन्द्र सेवक का सुमति प्रकाश ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है ।

इस तरह अठारहवीं शती का मराठी जैन साहित्य उत्तरोत्तर समृद्धि की ओर बढता रहा है । इस शतक में कालिकापुराणकार देवेन्द्रकीर्ति, जीवंधरपुराण आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता जिनसागर और श्रेणिकचरित्रकार जनार्दन जैसे श्रेष्ठकवि हुए हैं । इन कवियों का मराठी साहित्य के इतिहास में भी महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित किया जा सकता है । यादवसुत का **"अष्टकर्मप्रकृति"** तथा गुणकीर्ति का **'पद्मपुराण'** भी इसी कोटि की रचनायें हैं । इन रचनाओं को इस काल के श्रीधर,

कृष्णदयार्णव, अमृतराय, भक्तलीलामृतकार महीपती और मोरोपंत जैसे श्रेष्ठ जैनेतर मराठी साहित्यकारों की रचनाओं के साथ बैठा सकते हैं ।

१९ वीं शती के साहित्यकार (पूर्वार्ध)

18 वीं शताब्दी में कारंजा और कोल्हापुर के सम्बन्ध के कारण मराठी जैन साहित्य का क्षेत्र अधिक समृद्ध हुआ । इसके अन्तिम दशक में जन्म लेने वाले कविवर संत महतीसागर ने उसे और समृद्ध किया । यहां हम सन् 1850 तक की कालसीमा निर्धारित कर रहे हैं ।

महती सागर (जन्म ई. सन् १७७२)

कारंजा भट्टारक पीठ की शिष्य परम्परा में महतीसागर का नाम श्रेष्ठ कवियों में गिना जा सकता है । गुजराती जैन समाज का स्नेहिल सम्बन्ध भट्टारकपीठों से आज भी बना हुआ है । उत्तर सातारा, नगर, सोलापुर, उस्मानाबाद आदि स्थानों में गुजराती समाज पहुंची और महाराष्ट्री समाज में घुल मिल गई । महतीसागर के पूर्व कारंजा या लातूर में इस समाज का सम्बन्ध भट्टारक पीठ से कभी नहीं रहा । महतीसागर ने अपने सरल व्यक्तित्व और कठोर साधना तथा साहित्यिक प्रतिभा के बल पर इस क्षेत्र में अपना अच्छा शिष्य समुदाय तैयार कर लिया था जिनमें अधिकांश गुजराती समाज से थे ।

ब्रह्म महतीसागर का जन्म बराड में अंबनेर गांव में सेतवाल जैन परिवार में शक सं. 1694 में हुआ । उनका प्रारम्भिक विद्याभ्यास कारंजा में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति के सान्निध्य में हुआ । बाद में उनके पैर शक सं. 1732 में दक्षिणवर्ती फलटण, दहिगांव, नातेपुते, मेडद आदि नगरों की ओर बढ गये और 1754 में दहिगांव में स्वर्गवासी हो गये उन्होंने जैनधर्म का जो प्रचार–प्रसार किया वह अपने आप में अनूठा था ।

महती सागर के गुरु कारंजापीठ के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति थे जो सं. 1840 से 1850 तक विद्यमान थे । महतीसागर ने उनके चरित्र का दिग्दर्शन करानेवाली एक **लावनी** भी लिखी है । इसके अतिरिक्त अभंग, पद, आरती, अष्टक, व्रतकथा इत्यादि अनेक गंभीर रचनायें उपलब्ध हैं । सन् 1903 से ही उनकी रचनायें

प्रकाशित होने लगी थीं । प्रकाशित साहित्य में **"महती काव्य कुंज"** काफी लोकप्रिय हुआ है ।

अभी तक कवि का जो साहित्य प्रकाशित हुआ है उसमें प्रमुख हैं–संबोध सहस्रपदी (64 पद), दर्शनाष्टक, पंचपरमेष्ठी अभंग 19, जिनस्तुति (अभंग 30), दान माहात्म्य अभंग 3, स्वर्गवर्णन अभंग 3, पंचकल्याणिक वर्णन (147 पद्य) अभंग 34, चौबीस तीर्थंकर (पद 24), अरहंताष्टक (संस्कृत), देवेन्द्रकीर्ति लावणी, सरस्वती स्तोत्र, षट्कालवर्णन, चौबीस तीर्थंकर स्तुति, आदित्यवाद कथा, दशलाक्षणिक व्रत कथा (94 पद्य), रत्नत्रय व्रत कथा (38 पद्य), षोड़शकारण व्रत कथा (52 पद्य), ज्वालामालिनी अष्टक (संस्कृत), चौदहगुणस्थान प्ररूपणा, चतुर्विंशति प्ररूपणा । संबोध सहस्रपदी में मात्र 64 पद्य ही बन सके कि कवि स्वर्गवासी हो गये ।

दयासागर (सन् १८१३) - द्वितीय

दयासागर किनके शिष्य थे, यह अज्ञात है । उनका एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है **हनुमानपुराण** । इसमें 7 अध्याय हैं । ब्रह्मजिनदास के हनुमंतरास के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई । शक सं. 1735 में इसकी रचना समाप्त हुई।

रत्नकीर्ति (सन् १८१३)

रत्नकीर्ति विदर्भ के कवि रहे हैं । उनका एक ही विशालकाय ग्रन्थ उपलब्ध होता है **उपदेशरत्नमाला** । संस्कृत में आचार्य सकलभूषण ने 18 अध्यायों में सं. 1627 में इसकी रचना की थी । इसका मूल नाम षट्कर्मोपदेश रत्नमाला था । रत्नकीर्ति ने उसका मराठी अनुवाद किया । 30 अध्यायों में विस्तार से समाप्त किया । इसमें श्रावकों के देवपूजा, गुरूउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों का वर्णन इस ग्रन्थ में समुचित रूप से हुआ है ।

ग्रन्थ प्रशस्ति में कवि ने अपना और अपने गुरु का परिचय दिया है। इस ग्रन्थ की समाप्ति सं. 1869 में अमरावती के आदिनाथ मन्दिर में हुई । रत्नकीर्ति के गुरु भट्टारक सिद्धसेन थे । उन्होंने रत्नकीर्ति को आचार्यपद दिया जो उनकी योग्यता को प्रमाणित करता है । सिद्धसेन सेनगण भट्टारक पीठ पर कारंजा में

आसीन थे । उनका उल्लेख सं. 1829 से 1869 के बीच मिलता है । सिद्धसेन के गुरु शांतिसेन कोल्हापुर के थे। आपकी दूसरी कृति आराधना कथाकोश है जिसमें 52 अध्याय हैं और 120 कथाएं हैं । कवि इसके 27 अध्याय ही लिख पाए। शेष अध्याय उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति ने लिखे।

चन्द्रकीर्ति (सन् १८१६)

चन्द्रकीर्ति ने अपने गुरु का नामोल्लेख नहीं किया । उनकी दो रचनायें मिलती हैं – **सम्मेदशिखर महात्म्य** और पद्मावती श्रृंगार । सम्मेदशिखर माहात्म्य की रचना शक सं. 1737 में हुई । इसमें मात्र 64 ओवी हैं । **पद्मावती श्रृंगार** की रचना शक सं. 1738 में हुई । यह एक गीत है जिसमें पद्मावती देवी के आभूषण आदि की चर्चा की गई है । आराधना कथाकोश की भी पूर्ति आपने की थी।

नागेन्द्रकीर्ति

लातूर के भट्टारक नागेन्द्रकीर्ति के दस स्फुट पद मिलते हैं । इसमें कवि ने चन्द्रकीर्ति और विशालकीर्ति को अपने गुरु रूप में स्मरण किया है। अन्य पदों में रामटेक (रामक्षेत्र) के शान्तिनाथ भगवान की और देवलघाट के चन्द्रप्रभ की स्तुति की गई है । इनका समय सन् 1825 के आसपास निश्चित किया जा सकता है ।

जिनसेन (सन् १८२१)

कोल्हापुर भाग में जैन समाज की संख्या अधिक है किन्तु वहाँ मराठी साहित्य–सृजन उतना अधिक नहीं हुआ जितना कारंजा–लातूर–नागपुर भाग में हुआ। इस दृष्टि से जिनसेन कदाचित् दक्षिण के प्रथम इतने महान साहित्यकार होंगे जिनके वृहदाकार तीन ग्रन्थ मिलते हैं – जम्बूस्वामी पुराण (11 अध्याय), उपदेश रत्नमाला और पुण्याश्रव पुराण । **जम्बूस्वामी** पर संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं । मराठी में पहले दामा पंडित ने औ: फिर जिनसेन ने लिखा। सकलकीर्ति कृत संस्कृत जम्बूस्वामी पुराण के आधार पर जिनसेन ने इसे मराठी में लिखा जिसका प्रकाशन शक सं. 1829 में नांदणी से हुआ । यह रचना अत्यन्त प्रौढ़ और श्रेष्ठ हैं ।

उपदेश रत्नमाला मूल रूप से भट्टारक सकल भूषण ने संस्कृत में लिखी थी जिसे जिनसेन ने 23 अध्यायों में मराठी में लिखा शक सं. 1743 में और नांदणी से उसका प्रकाशन हुआ । इसमें श्रावकों के षट्कर्मों का उपदेश वर्णित है । प्रशस्ति में विद्यासागर और जिनसेन (गुरु) का नाम आता है ।

तीसरा ग्रन्थ **पुण्याश्रव पुराण** मूलतः संस्कृत में रामचन्द्र कवि द्वारा लिखा गया था । शक सं. 1253 में नागराज ने उसी के आधार पर कन्नड में लिखा । शक सं. 1751 में जिनसेन ने कन्नड पुराण के आधार पर अपना पुण्याश्रव पुराण लिखा । यह तथ्य ग्रन्थ प्रशस्ति से भी पुष्ट होता है – **पाहुन कर्नाटक भाषा ग्रन्थ । केले मरहाष्ट वोवियुक्त** ।।193 ।।

जिनसेन ने अपने पुण्याश्रव पुराण को 79 अध्यायों में विभक्त किया है । इस पुराण में जैन पुराणों में समागत आकर्षक बहुत सारी कथाओं का समावेश इस पुराण में कर दिया गया है । लोक कथायें, पौराणिक कथायें, दैवतकथायें, तीर्थंकर नारायण, प्रतिनारायण, चक्रवर्ती, बलभद्र, प्रतिबलभद्र, कथायें भी इसमें समाविष्ट हैं । वज्रदन्त, सुग्रीव, चारुदत्त, धरणेन्द्र–पद्मावती, दृढसर्प, सर्पदंश, बाली, सुकुमार, मेघेश्वर, सीतादेवी, महाबल, शक्तिसेन, सुकेतु, सगर, लवांकुश आदि आख्यान यहां दृष्टव्य हैं।

दिलसुख (सन् १८२३)

दिलसुख के गुरु पद्मनन्दी कारंजा के बलात्कारगण के भट्टारक सं. 1850 से 1879 तक रहे । अतः दिलसुख का समय सन् 1823 के आसपास माना जा सकता है । उन्होंने **'स्वात्मविचार'** नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मराठी में लिखा जिसमें जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर संपूर्ण ढंग से विचार किया गया। लेखक संस्कृतज्ञ थे इसलिए उन्होंने यथास्थान प्रश्नोत्तरमाला, पंचास्तिकाय, पंचविंशति आदि ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं।

माणिक और लक्ष्मीसेन-शिष्य

पद्मनन्दि के शिष्य माणिक की तीन रचनाएं उपलब्ध हैं – गुरु आरती, नवग्राह आरती तथा देवी पद्मावती लावणी । इन तीनों की पद्य संख्या 5–5 हैं । लक्ष्मीसेन–शिष्य कारंजा के सेनगण के भट्टारक (सन 1832) थे । 5 कडवकों में उनके किसी शिष्य ने अभिषेक समारोह का वर्णन किया है ।

गिरिसुत (ठकाप्पा) सन् १८५०

गिरिसुत ठकाप्पा ने शक सं. 1772 में मगदुम के ऋषभनाथ मन्दिर में अपने पाण्डवपुराण की रचना पूरी की । यह ग्रन्थ 22 अध्यायों में विभक्त है । कन्नड में प्राप्त नागराजेन्द्र के हरिवंश पुराण के आधार पर गिरिसुत ने इस पुराण की रचना की । गिरिसुत के गुरु जिनसेन थे जिन्होंने उपदेश–रत्नमाला व पुण्याश्रव ग्रन्थों की रचना की । गिरिसुत प्राचीन मराठी वाङ्मय परम्परा के अन्तिम श्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं। उनके बाद समाज और काल की स्थिति बदल गई ।

सोमवंशी तुकुजी

आपकी **'कोतको'** शीर्षक एक ही रचना प्राप्त हुई है । इसे 'पद्मावती गीत' भी कहा गया है । इसमें मात्र पांच कडवक हैं । यह कवि कासार–वोगार जाति का होना चाहिए ।

राया – राया के नाम से कुछ आरती शिरड शहापुर में हस्तलिखित पोथी में प्राप्त हुई –

1.	माणिकस्वामी आरती	–	5 कडवक
2.	गोमटस्वामी आरती	–	3 कडवक
3.	क्षेत्रपाल आरती	–	3 कडवक
4.	शान्तिनाथ आरती–पहली	–	3 कडवक
5.	शान्तिनाथ आरती–दूसरी	–	2 कडवक
6.	नेमीश्वर आरती	–	1 कडवक
7.	क्षेत्रपाल आरती	–	3 कडवक
8.	पार्श्वनाथ आरती	–	3 कडवक

कवीन्द्र सेवक

कवीन्द्रसेवक एक कुशल अभंगकार थे । उन्होंने चिमना पंडित के अधूरे अभंग भी पूरे किये । ऐसे अभंगों की संख्या 545 है । प्रत्येक अभंग के अन्त में

'कवीन्द्र सेवक म्हणे' का उल्लेख होता है । ये अभंग भक्ति और श्रद्धा से ओतप्रोत हैं । इन अभंगों की हस्तलिखित प्रति शक सं. 1731 की है । अर्थात् सन् 1810 के आसपास कवीन्द्र सेवक का समय होना चाहिए।

कवीन्द्र सेवक का **'सुमतिप्रकाश'** नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी मिला है जिसमें 2372 ओळी हैं। इसमें भट्टारक की कथा वर्णित है ।

बोप

हिंगोली में प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ में बोप कवि का **"तीर्थकरांची भूपाली"** रचना मिलती है । इसमें 16 कडवक हैं । यह प्रति शक सं. 1731 की है । कवि ने इसमें अपने गुरु का नाम दयालकीर्ति दिया हुआ है ।

देवेन्द्रकीर्ति-शिष्य

देवेन्द्रकीर्ति–शिष्य के नाम से **'पद्मावती पालणा'** शीर्षक एक रचना शक सं. 1693 में लिखी मिलती है । इसमें कवि का स्वयं का कोई नाम नहीं है। इसमें 18 कडवक है । इस रचना में जयसिंगनगर में हुए पद्मावती उत्सव का उल्लेख हुआ है ।

इसी तरह का एक अन्य ग्रन्थ **'ज्ञानोदय'** मिलता है जिसमें गुरु का नाम शक्रकीर्ति दिया है पर स्वयं के नाम का कोई उल्लेख नहीं । इसमें तीन अध्याय और 99 ओळी हैं । यह ग्रन्थ अध्यात्म विषयक है ।

एक अन्य ग्रन्थ **'आत्मख्याती'** उपलब्ध होता है जो, समयसार की पद्यात्मक मराठी टीका है । इसमें सात अध्याय हैं । भाषा शुद्ध और प्रांजल है ।

इस प्रकार मराठी जैन साहित्य का मध्यकाल विविधता से भरा हुआ है। श्रावकों और मुनियों ने लगभग सभी विधाओं में साहित्य–सृजन किया है। प्राचीन ग्रन्थों का मराठी अनुवाद भी काफी संख्या में हुआ है । महाराष्ट्र की इस पल्लवित जैन संस्कृति का प्रभाव मराठी सन्तों पर तो दिखता ही है, साधारण जन मानस भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। नाथयन्थ, महानुभाव जैसे सम्प्रदाय जैनधर्म की भाषा बोलते दिखाई देते हैं। ज्ञानेश्वरी के तो पन्ने–पन्ने पर जैनधर्म की छाप मिलती है । इस क्षेत्र में अभी विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

तृतीय परिवर्त

आधुनिक जैन मराठी साहित्य

आधुनिक मराठी जैन साहित्य सन् 1850 के बाद प्रारम्भ होता है। इस समय तक ग्रन्थों का मुद्रण प्रारम्भ हो गया था और आधुनिक शिक्षापद्धति ने समाज को जाग्रत भी कर दिया था । सेठ हीराचंद नेमचंद दोशी जैसे समाज सेवी श्रेष्ठी वर्ग ने और देवकीनन्दन जी शास्त्री जैसे मनीषी वर्ग ने समाज को नयी दिशा दी जिससे समाज अपनी संस्कृति को समझने की ओर आगे कदम बढाने के लिए उत्साहित हो सका । इसी सन्दर्भ में हम मराठी जैन साहित्य और साहित्यकारों की चर्चा करेंगे । विषयों का वैविध्य और गद्य की प्रधानता उसकी विशेषताएँ हैं । इस मध्ययुगीन काल में अनुवाद अधिक हुआ है । उसके बाद कथात्मक और पद्यात्मक ग्रन्थों की संख्या आती है । यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक साहित्य का सृजन दक्षिण महाराष्ट्र में अधिक हुआ है । इसके साहित्यकार साधुवर्ग से न होकर शिक्षित गृहस्थवर्ग से संबद्ध हैं ।

महाराष्ट्र दक्षिणापथ का प्रवेश द्वार है । उसकी सीमा यद्यपि परिवर्तित होती रही है फिर भी वर्तमान महाराष्ट्र में दण्डकारण्य को छोडकर विदर्भ और अपरान्त (कोंकण) उसके मुख्य भौगोलिक भाग हैं । इस समूचे भाग में जैन संस्कृति कदाचित् प्रारम्भकाल से ही लोकप्रिय रही है । सातवाहन कालीन भाजे गुफा में प्राप्त भित्तिचित्र को विद्याधर संस्कृति से संबद्ध माना गया है। भद्रबाहु प्रथम की परम्परा में दीक्षित मौर्य सम्राट्–चन्द्रगुप्त का सारा जैन संघ महाराष्ट्र मार्ग से ही श्रवणबेलगोल पहुंचा था । इसके पूर्व यहीं से श्रीलंका में भी जैनधर्म गया था । धाराशिव (तेर), अंजनेरी आदि स्थानों की जैन गुफायें और महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग जैनत्व का आवाहक है । पूना के समीपवर्ती ग्राम पाल में प्राप्त

प्राचीन अभिलेख में उट्टंकित 'नमो अरहंतानं' खारवेल अभिलेख और षड्खण्डागम के मंगलाचरण की याद दिला देता है । महिमा नगरी नागपुर, एलिचपुर, चांदा, वर्धा, अमरावती, नासिक, नांदेड, कराड, मान्यखेट (सातारा), सांगली, बेलगांव, कोल्हापुर, सोलापुर आदि में हुई जैन सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों ने महाराष्ट्र को एक जीवन्त प्रदेश सिद्ध कर दिया है । पुष्पदन्त, ब्रह्मगुणदास आदि प्राचीन कवियों ने उसकी जीवन्तता को सींचा है ।

इस जीवन्तता को बनाये रखने में समाज के हर वर्ग का अपना–अपना योगदान रहा है जिसे इस छोटी–सी पुस्तिका में समेटना संभव नहीं लगता। उसे तो पृथक् शोधप्रबन्ध की आवश्यकता होगी । अतः यहां हमने स्वयं को मात्र साहित्यिक विधा से परिबद्ध कर दिया है । इसमें साहित्यकारों और चिन्तकों का जिक्र करते समय सामाजिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास का भी एक परिदृश्य नजर आ सकेगा।

मनीषियों को हमने कालक्रम से ही संयोजित करना अधिक उचित समझा । इसमें दिवंगत और विद्यमान, दोनों वर्ग समाविष्ट हो जाते हैं । काल–परिचय न होने के कारण यह कालक्रम कहीं–कहीं विश्रृंखलित भी हो गया होगा । कतिपय मनीषी हमारी अल्पज्ञता के कारण लेखनी के भीतर आने से वंचित भी हो गये होंगे अथवा उनके योगदान का समुचित या पर्याप्त उल्लेख नहीं किया जा सका होगा । इसके लिए सुधी पाठक क्षमा करेंगे ।

बीसवीं शताब्दी में नारी चेतना का काफी जागरण हुआ । जैन महिला वर्ग भी उससे अप्रभावित नहीं रहा । विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह आदि जैसे अनेक आन्दोलन भी चलाये गये जिनका सम्बन्ध सामाजिक विकास से था । शैक्षणिक क्षेत्र में भी महिला वर्ग ने अपना स्थान बना लिया है । इस दृष्टि से हमने महिला मनीषी को पृथक् वर्ग के रूप में आकलित किया है । इस तरह यह आलेख दो भागों में विभाजित किया गया है पुरुष वर्ग और महिला वर्ग । उनके द्वारा लिखित साहित्य को हमने आधुनिक मराठी साहित्य की पृष्ठभूमि में पहचानने का अधिक प्रयत्न किया है।

महाराष्ट्र की जैन सांस्कृतिक चेतना के विकास में मराठी भाषियों का तो

योगदान है ही पर हिन्दी और गुजराती आदि भाषा–भाषियों के योगदान की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । इसलिए हमने यहां ऐसे भी जैन मनीषियों को इस आलेख में संमिलित किया है जिन्होंने अपने जीवन का अमूल्य बहुभाग यहां बिताया है और यहां की चेतना के विकास में अपना खून–पसीना बहाया है, प्रतिभा और सामर्थ्य का उपयोग किया है । डॉ. हीरालाल जैन, पं. देवकीनन्दन शास्त्री, पं. नाथूराम प्रेमी जैसे मनीषियों को कैसे भुलाया जा सकता है ? आशा है, पाठक हमारे विचारों से सहमत होंगे। योगदान का मूल्यांकन वस्तुतः मात्र जन्मभूमि पर आधारित नहीं होता, बल्कि उससे कहीं अधिक कर्मभूमि पथ का निर्माण करती है ।

आधुनिक मराठी साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि

बीसवीं शताब्दी के महाराष्ट्रीय जैन मनीषियों को समझने के लिए हम आधुनिक मराठी साहित्य पर एक दृष्टिपात कर लेना उचित समझते हैं । बीसवीं शती आधुनिक कालीन पश्चिमी संस्कृति के संपर्क का परिणाम है । इसमें दो वर्ग दिखाई देते हैं – एक अंग्रेजी शिक्षित वर्ग और दूसरा सामान्य जन समाज । इनमें एक संकीर्ण जातिवादी वृत्ति भी पनपी। आधुनिकीकरण में अंग्रेजी शिक्षा छा गई और मेकाले की विजय हो गई । बाम्बे रायल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना 1827 में इसलिए की गई थी कि पौर्वात्य ज्ञान का अध्ययन पिछड न जाये । बालशास्त्री ने इसी निमित्त से 1832 में 'दर्पण' और 1840 में 'दिग्दर्शन' पत्रिकायें शुरू कीं । तडखडकर बन्धुओं ने मानवतावाद का प्रचार किया । रानाडे, भण्डरकर, गोपाल हरि आदि मनीषियों ने जनजागृति का अभियान तेज किया । राष्ट्रीयता का जागरण हुआ, जातिव्यवस्था को विखण्डित करने का उद्देश्य बना, सदाचरण की सत्यता स्वीकारी जाने लगी और ज्योतिबा फुले (1827–1890) ने हरिजनों के लिए पाठशालायें खोलीं, 1860 में विधवा विवाह के लिए अपना सहयोग दिया और 1873 में सत्यशोधक समाज की स्थापना की ब्राह्मणवादी मनोवृत्ति से उभरने के लिए । इसी परम्परा में नारी शिक्षा और नारी जागरण का आन्दोलन हुआ धोंडो केशव कर्वे जैसे कर्मठ व्यक्तित्व के नेतृत्व में ।

भारतीय राजनीति में दादाभाई नौरोजी (1825–1917) और भाऊ दाजी लाड (1824–74) ने एक नयी चेतना जाग्रत की और ग्रन्थालय आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ । फलतः 1857 तक मध्यवर्ग में सभी स्तरों पर जीवन विषयक दृष्टिकोण में बदलाव के चिन्ह दिखाई देने लगे, मानवीय मूल्यों का समादर होने लगा, वर्णव्यवस्था और शोषण के प्रति विद्रोह के स्वर उठने लगे और संसदीय जनतन्त्रवादी व्यवस्था को स्वीकारा जाने लगा । गोविन्द महादेव रानाडे और गोपाल गणेश आगरकर के नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। मराठी मानस पर उनका अच्छा प्रभाव पडा।

बीसवीं सदी का मराठी साहित्य इन सभी आन्दोलनों से प्रभावित हुआ। मौखिक परम्परा ने धीरे–धीरे लिखित परम्परा को स्वीकार किया, मुद्रणकला के प्रचार से पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं, निबन्ध, कहानी, अनुवाद आदि विधाओं का विकास होने लगा, काव्य भाव–रसानुभव की सीमा से निकलकर व्यक्तिगत जीवनानुभव की ओर मुड गया, साहित्य भी अपनी सीमा लांघने लगा और मध्यमवर्गीय संस्कृति में जबर्दस्त बदलाव दिखने लगा । साक्षरता बढने के साथ ही सामान्य जनता का अलगाव भी बढ गया और विज्ञान और तकनीकी शिक्षा से प्रतिभा सम्पन्न तरुणवर्ग विदेशों की ओर पलायन करने लगा । मराठी जैन साहित्य और समाज भी इससे अप्रभावित नहीं रहा ।

समन्वय साधना भारतीय संस्कृति की विशेषता है । सन्त परम्परा ने इस विशेषता को और भी साधा है । ज्ञानेश्वर का वारकरी सम्प्रदाय और चक्रधर का महानुभव पन्थ मराठी साहित्य के प्रबल स्तम्भ हैं जिनपर जैन सन्त साहित्य का गहन प्रभाव दिखाई देता है । शिव और शक्ति, निर्गुण और सगुण, अद्वैत और द्वैत तथा निवृत्ति और प्रवृत्ति के बीच दिखाई देने वाला समन्वयवाद मूलतः जैन संस्कृति का बीज है जो पंढरपुर की विट्ठलवादी भक्ति में भी प्रतिबिम्बित हुआ है । ज्ञानेश्वरी, एकनाथी भागवत और तुकाराम की गाथा, यह वारकरी अर्थात् भागवत सम्प्रदाय की प्रस्थानत्रयी है जिसपर जैन सिद्धान्तों की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । ज्ञानेश्वरी का पसायदान इसका निदर्शन है ।

जातिवाद और वर्णवाद की संकीर्णता से उन्मुक्त होकर धर्म के चिन्तन ने निजानन्द में तल्लीन होने वाले को अन्तर्मुखी बना दिया। ज्ञानेश्वर के 300 वर्ष बाद एकनाथ ने भागवत धर्म का पुनरुत्थान किया । उसके बाद स्वराज्य सूर्य का उदय हुआ जिसकी पुनीत किरणों का रसपान तुकाराम, रामदास जैसे सन्तों ने तथा शिवाजी जैसे युगपुरुष ने किया । मराठी में सन्त कवियों के बाद 1680 से 1800 तक के काल में कोई महत्त्वपूर्ण कवि दिखाई नहीं देता । मोरोपंत, श्रीधर आदि पंडित कवि हुए अवश्य पर वे प्राचीन परम्परा के ही आवाहक रहे हैं समकालीन जीवन के प्रति उनकी सजगता नहीं थी ।

1800 के बाद आधुनिक युग की आरम्भिक आवस्था आती है । 1800 से 1874 के काल को स्वतन्त्र साहित्यिक युग माना जाता है । गद्य–पद्य का विकास इस बीच होने लगा । आधुनिक संवेदना का सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न विस्फोट पहली बार केशवसुत (1866–1905) की कविता में हुआ जिसमें समता, स्वातन्त्रता, बंधुत्व, प्रेम, करुणा, विवेक, सामाजिकता आदि जैसे मानवीय तत्त्वों का समीकरण समाया हुआ है । वामन तिलक, कवि दत्त (1875–1899) राम गणेश गडकरी (1889–1919) आदि कवियों और लेखकों ने केशवसुत का अनुकरण किया । स्वतन्त्रता सैनानी वीर सावरकर के काव्य में राष्ट्रीय भावना अधिक मुखर हुई । 1925 के बाद भारतीय राजनीति में हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य बढने लगा जिसका प्रभाव साहित्य पर भी अंकित हुआ । दलित साहित्य ने भी इस बीच जन्म लिया। इस काल में मानवीय संवेदनावादी कवि हाशिये पर आ गये । पर उत्तरकाल में उनमें मानवीय संवेदना जाग्रत हुई।

मराठी साहित्य की यथार्थ क्षमता उसके नाट्य साहित्य में दिखती है। उसकी लोकप्रियता में उसका संगीत और बालगंधर्व जैसा श्रेष्ठ अभिनेता दृष्टव्य है । 1950 के बाद इस नाट्य परम्परा में और भी विकास हुआ । साठोत्तरी नाटककारों में तो दकवी, महेश, तेंडुलकर आदि अनेक कलाकार सामने आये। नाटक के समान मराठी कविता गीत्यात्मक (लिरिकल) रूप में अधिक सशक्त दिखाई देती है । मर्ढेकर, करंदीकर, खानोलकर, शनिवारे, बन्नोरे आदि अच्छे कवि हुए हैं । मराठी कहानी और उपन्यास का क्षेत्र भी समृद्ध है । दुर्गा,

भागवत, इरावती कर्वे आदि के ललित निबन्धों और वैचारिक लेखन में यह समृद्धि दिखाई देती है ।

आधुनिक मराठी साहित्य की एक और महत्त्वपूर्ण शक्ति है उसका महिलाओं द्वारा लिखा गया आत्मचरित्रात्मक लेखन । ज्योतिबा फुले और कर्वे जैसे समाज सुधारकों ने नारी चेतना को जाग्रत किया और साठोत्तरकाल में तो नारी वर्ग ने मुक्त भाव से लिखा । हंसा वाडकर, स्नेहलता प्रधान, सुनीता देशपाण्डे, सावित्री कांबले आदि महिलाओं ने आत्मचरित लिखकर अपने अनुभव को निसंकोच व्यक्त किया । इसे हम सांस्कृतिक विकास का ही परिणाम कहेंगे।

बीसवीं शताब्दी के मराठी जैन साहित्यकार

आधुनिक मराठी साहित्य के इस सर्वेक्षण की पृष्ठभूमि में हमें मराठी जैन साहित्य पर एक दृष्टिपात करने में सुविधा होगी । इतिहास की दृष्टि से हम देखें तो मराठी जैन साहित्य का प्रारम्भ लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी से होता है जिसका प्रारम्भ गुजराती विद्वानों द्वारा हुआ । इसमें काव्य, पुराण, कथासंग्रह, उपदेशात्मक पद और अभंग हैं । इन विधाओं के लेखकों में भट्टारक अधिक हैं और गृहस्थ कम । डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोले और डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने मध्यकालीन मराठी जैन साहित्य पर अच्छा कार्य किया है ।

मराठी साहित्य के समान आधुनिक मराठी जैन साहित्य भी अंग्रेजी शिक्षापद्धति और मुद्रण व्यवसाय से प्रभावित हुआ है । 1850 के बाद यह स्थिति अधिक देखी जा सकती है । मराठी जैन समाज में इस परिवर्तन का सूत्रपात सेठ हीराचन्द नेमचन्द दोशी द्वारा सन् 1884 में स्थापित जैन बोधक से हुआ है । विधाओं और विषयों का वैविध्य, तथा भाषा की सरलता इसकी विशेषता है । मौलिक ग्रन्थों का निर्माण कम और अनुवाद अधिक हुआ है । इनमें कथा, स्तोत्र, पूजा, सिद्धान्त, इतिहास, तीर्थ विवरण और धर्मतत्त्व से सम्बद्ध साहित्य अधिक रचा गया है । इनके लेखकों में गृहस्थों की ही संख्या अधिक है ।

मराठी जैन साहित्य में नवयुग का निर्माण हुए आज लगभग एक शतक हो चुका है । सन् 1985 के आसपास ही कोल्हापुर में श्री जिनविजय पत्र प्रारम्भ हुआ । 1899 में दक्षिण भारतीय दि. जैन महासभा की स्थापना हुई । इस सभा की ओर से प्रसिद्ध चिन्तक और सुधारक अण्णा साहेब लट्ठे ने 'श्री जिनविजय' का नाम "प्रगति आणि जिनविजय" रखा और उसे 1902 में शुरू किया । इस पत्र ने सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में अच्छा कार्य किया और अभिनव मराठी जैन साहित्य के निर्माण का सूत्रपात हुआ । साथ ही प्राचीन जैन मराठी साहित्य का भी मूल्यांकन होने लगा । विद्वानों ने जैन साहित्यकार कवि रणदिवे, कादम्बरीकार वा. ना. शहा, बालसुत, मकरन्द व कवि कांचन नाना रामचन्द्र नाग राजेन्द्र वीडकर, प्रदीप शहा आदि का उल्लेख मराठी साहित्यकार के रूप में किया । 1934 में स्तवनिधि में तात्या नेमिनाथ पांगल की अध्यक्षता में जैन साहित्य संमेलन हुआ । इसके बाद सांगली में "जैन महाराष्ट्र कवि मण्डल" की स्थापना हुई । इसी बीच वर्धा से भी पत्र प्रकाशित हुए जैन बन्धु और वाग्विलास तथा जैन भाग्योदय । 1925 में सोलापुर से भी प्रभावना पत्र निकला । इनके अतिरिक्त दिव्यध्वनि, श्राविका, जैन, तपस्या, जैन पथिक, जैन जगत आदि पत्रिकायें भी साहित्यिक क्षेत्र में थीं ।

इसी सन्दर्भ में षड्खण्डागम आदि प्राचीन ग्रन्थों के संपादन–प्रकाशन का इतिहास भी स्मृति पटल पर घूमने लगता है । कारंजा के बलात्कारगण मंदिर में प्राचीन जैन पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है । बीसवीं शती के तीसरे दशक में पं. देवकीनन्दनजी, और सेठ गोपाल सावजी चवरे के पुनीत सहयोग से डॉ. हीरालाल जी को यहां से अपभ्रंश ग्रन्थों की कुछ पाण्डुलिपियां मिल सकीं जिनका सम्पादन और अनुवाद प्रस्तुतकर भारतीय ज्ञानपीठ से उन्होंने उनका प्रकाशन कराया ।

1933 में अखिल भारतवर्षीय दि. जैन परिषद का वार्षिक अधिवेशन इटारसी में हुआ समाज सुधारक वैरिस्टर जमनाप्रसाद जज, नागपुर की अध्यक्षता में । वहीं भेलसा (विदिशा) के सेठ लक्ष्मीचन्द्र सिताबरायजी भी पहुंचे

हुए थे । जज साहब ने समझा–बुझाकर सेठ सा. से साहित्योद्धार के लिए दस हजार रूपयों की घोषणा करा दी जिसका उपयोग धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रकाशन में किया जाना भी निश्चित हो गया । इधर सिंघई पन्नालालजी के अटूट प्रयत्नों से धवला और जय धवला की प्रतिलिपि अमरावती पहुंच गई और हीरालालजी ने पं. बालचन्द्रजी, पं. फूलचन्द्र जी, पं. हीरालालजी, डॉ. उपाध्ये आदि विद्वानों के सहयोग से सम्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया । सोलह जिल्दों में 1968 तक उनका सम्पादन हो गया जिनके प्रकाशन का श्रेय सेठ माणिकचन्दजी सोलापुर को जाता है । सेठ सखाराम दोशी, सोलापुर, नेमचन्द्रजी वकील उस्मानाबाद, पं. लोकनाथ शास्त्री मूडबिद्री, पं. नाथूराम प्रेमी जैसे महानुभावों का भी अनेक प्रकार से इस पवित्र कार्य में सहयोग रहा । अन्त में इन ग्रन्थों के प्रकाशन का उत्तरदायित्व जैन सिद्धान्त संरक्षणी संघ, सोलापुर को सौंपा गया । इस तरह जैनागम की सुरक्षा और प्रकाशन व्यवस्था का मुख्य श्रेय महाराष्ट्र को जाता है जिसमें हिन्दी, मराठी या गुजराती भाषा भाषियों का कोई भेद नहीं था । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि षड्खण्डागम, धवला और जयधवला का पुनर्मुद्रण पूज्य चारुकीर्ति भट्टारकजी श्रवणबेलगोला के सम्पादकत्व में कन्नड अनुवाद के साथ हो रहा है ।

इसी तरह ***सुमतीबाई शहा*** और ***सुलोचना बाई भोकरे*** के नेतृत्व में जैन स्त्री लेखिका संगठन की स्थापना हुई जिसने 1940 में "जैन महाराष्ट्र लेखिका" नाम से जैन महिलाओं के लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ । डॉ. शं. गो. तुलपुले, डॉ. वि. भि. कोलते, डॉ. अ.न. देशपाण्डे, डॉ. रा. चिंढेरे, डॉ. व. भि. कुलकर्णी आदि जैसे निष्णात विद्वानों ने मराठी जैन साहित्य की समुचित ढंग से समीक्षा भी की है ।

कन्नड और मराठी जैन साहित्य के बीच प्रारम्भ से ही संबन्ध रहा है। गोमटेश्वर (श्रवणबेलगोला) के चरणों के समीप अंकित शिलालेख मराठी का आद्य शिलालेख है । मान्यखेट (मलखेड) राष्ट्रकूटों की राजधानी रही है जिसमें महाराष्ट्री अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण की रचना हुई । यह भाग कर्नाटक और महाराष्ट्र को जोड़ने वाला रहा है । ज्ञानेश्वर के पूर्ववर्ती मराठी

साहित्य पर जैन साधु सन्तों का अच्छा प्रभाव रहा है । ज्ञानेश्वर के 'पसायदान' में और महापुराण के 'लोककल्याणभावना' में बडा भावनात्मक साम्य दिखाई देता है । पुष्पदन्त महाकवि का बहुत सारा समय राष्ट्रकूटों की राजधानी में बीता । वस्तुतः इस समय की मराठी को पूर्व मराठी का रूप कह सकते हैं । कवि नागराज जैसे अनेक ऐसे कवि हुए हैं जो कन्नड और मराठी दोनों भाषाओं में दक्ष थे । आज भी काफी ऐसे उभयभाषी विद्वान मिलते हैं जिन्होंने दोनों भाषाओं के साहित्य में समान रूप से अपना शोधकार्य किया है।

इस बीसवीं शताब्दी में बाबा दुलीचन्द, नांडेकर, साहित्यचंद शहा, कुंतीनाथ करके (जन्म 20 अप्रेल 1936), अमीचंद शहा, हातकणंगलेकर, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, पं. कल्लाप्पा निटवे, दत्तात्रय भवाणी रणदिवे, पं. माणिकचन्द चवरे, सेठ हीराचन्द नेमचन्द दोशी, मोतीचन्द गांधी अज्ञात, डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. सुभाषचन्द अक्कोले आदि जैसे बीसों विद्वान हुए हैं और हैं जिन्होंने मराठी और हिन्दी–अंग्रेजी में जैन साहित्य की अभिवृद्धि की है । यहां हम उनमें से कतिपय साहित्यकारों का उल्लेख कर रहे हैं ।

प्रारम्भिक मराठी जैन साहित्य में अनुदित रचनायें अधिक हुई, स्वतन्त्र साहित्य का सृजन अधिक नहीं हुआ । ऐसी रचनाओं में विशेष उल्लेखनीय इस प्रकार हैं । यहां सर्वप्रथम उन साहित्यकारों की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है जिनके विषय में अधिक कुछ नहीं मिल सका।

नानचन्द बालचन्द गांधी, उस्मानाबाद ने द्रव्यसंग्रह, श्रावकप्रतिक्रमण, रविवारव्रतकथा इत्यादि का अनुवाद किया । नेमचन्द बालचन्द वकील ने गोम्मट्टसार का अनुवाद, कर्मसिद्धान्त पर आधारित अनेक ग्रन्थों का अनुवाद, ईश्वर कुछ करता है क्या ?, गुणस्थानचर्चा, सुभाषितावली, सामायिकपाठ, सज्जन चितवल्लभ, पद्मनन्दिपंचविंशति आदि ग्रन्थों का अनुवाद किया । हीराचन्द अमीचन्द शहा ने कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे, जैसे – जैनकथा सुमनावली, यशोधरचरित्र । बालचन्द नानाचन्द शहा मोडतिंबकर की भी स्वतन्त्र रचनायें मिलती हैं – सम्राट् अशोक, छत्रसाल और उषा (उपन्यास), प्रणयी

युवराज नाटक आदि । बालचन्द रामचन्द कोठारी ने धर्मामृतरसायन का अनुवाद किया और गीतारहस्य पर आधारित आलोचनात्मक प्रबन्ध जैसी अनेक पुस्तकें लिखीं । श्रीकृष्णा जी नारायण जोशी ने धर्मपरीक्षा, द्रव्यसंग्रह, नेमिदूतकाव्य तथा धर्मशर्माभ्युदय का मराठी अनुवाद दिया। बालगौडा जखगौडा पाटील ने पं. नाथूराम प्रेमी कृत 'भट्टारक' निबन्ध का अनुवाद किया । केवलचन्द हिराचन्द कोठारी बुधकर ने भावपाहुड आदि अनेक ग्रन्थ लिखे । इसी तरह मरुदेवी स्व. धर्मप्पा आखाडे का भट्ट अकलंकदेव विरचित रत्नत्रयसार का अनुवाद, पं. कालचन्द जिनदत्त उपाध्याय का द्वादशानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश तथा भरतेशवैभव का अनुवाद, श्री चन्दप्पा जिनप्पा हाडोले का जैनधर्म की प्राचीनता का अनुवाद भी मिलता है । रा. भिसीकर नरेन्द्रनाथ जयवंत के बालबोधिनी व जैनसिद्धान्तप्रवेशिका तथा दा. बा. पाटील की तत्त्वार्थसूत्र–प्रकाशिनी का भी उल्लेख किया जा सकता है । अनुवाद के क्षेत्र में दीवान बहादुर बाबा जी लट्टे का शाहू छत्रपति कोल्हापुर की जीवनी तथा जैनिज्म, क्षु. स्वरूपसागर के अनुभवप्रदीप, स्वरूपनित्यजिनपूजा, स्वरूप भजनशतक, स्वरूपछन्दशतक, मेरीभावना आदि, तथा ब्र. नन्दलाल जैन का रत्नकरण्ड–श्रावकाचार व समयसार नाटक का सम्पादन, आत्मप्रमोद, आत्मभावना, अनुभव लहर, आत्मवंदना, शुद्धात्मविलास, कुन्दकुन्द भजनावली, कुन्दकुन्द वचनामृत, आत्मवाद और एकान्तपरिहार, ज्ञानज्योति और नित्यमुक्त स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सामने आये । तथा दीवान बहादुर अवाप्पा फड्यप्प चौगुले का रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वसुनन्दीश्रावकाचार, और आदिपुराण का अनुवाद तथा चौगले और कर्मवीर बलवंतराव चंदप्पा धावते का प्रगति आणि जिनविजय का सम्पादन भी हुआ । 1950 में सोलापुर से 'सन्मति' और 1968 में श्रेणिक अन्नदाते के सम्पादकत्व में 'तीर्थंकर' का प्रकाशन शुरू हुआ ।

इसके बाद हम उन मनीषियों का उल्लेख कर रहे हैं जिन्होंने इस बीसवीं शताब्दी को अपने साहित्यिक और सांस्कृतिक अवदान से विशेष समृद्ध किया है ।

बाबा दुलीचंद

बाबा दुलीचंद फलटण निवासी हुंमड जाति के श्रावक थे । अपने अनेक जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी और बहुत ग्रन्थों का संग्रह किया। उनका यह संग्रह जयपुर के तेरापन्थी मंदिर में सुरक्षित है। आप समूचे भारत में भ्रमण करते थे और ग्रन्थों का संग्रह, उनकी प्रतिलिपि और स्वतन्त्र लेखन किया करते थे । आपके पिताश्री माणिकचंद भी अच्छे साहित्यप्रेमी और लेखक थे । आपका देहावसान 4 अगस्त सन् 1928 को आगरा में हुआ शतायु होकर।

प्रतिष्ठासार भाषा टीका संग्रह, (सं. 1936), धर्मोपदेश रत्नमाला, जैन यात्रा दर्पण, मन्दिर निर्माण विधि बाबा के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं । इनके अतिरिक्त उनके उपलब्ध ग्रन्थ हैं – सुभाषितावली (सं. 1931), जैनागार प्रक्रिया (सं. 1936), बाईस अभक्ष्य (सं. 1941), जैन सदाचार मार्तण्ड (सं. 1946), अकृत्रिम जिन चैत्यालय वर्णन, द्रव्य संग्रह भाषा (सं. 1966), धर्मपरीक्षा (1968), मृत्यु महोत्सव, धर्मदास व दुलीचंद पत्र–व्यवहार, ज्ञान प्रकाश विलास, विवाह पद्धति, आबू मंदिराचे शिलालेख भाषा, पूजा क्रिया वर्णन, आराधनासार वचनिका, निर्माल्य दोष वर्णन, पदसंग्रह, हरसुखराय, दिल्ली मंदिरातील ग्रन्थसूची । बाबा के द्वारा संग्रहीत 850 ग्रन्थ जयपुर के बडे मन्दिर में रखे हुए हैं ।

पण्डित देवकीनन्दन शास्त्री

बरुआसागर में सन् 1853 में जनमें पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री को अपनी माताश्री तुलसीबाई और पिताश्री हजारीलालजी का पारम्परिक स्नेह–दुलार मिला और धार्मिक वातावरण की फुहार भी । पू. गणेश प्रसादजी वर्णी के आग्रह से पं. जी को मुरैना तथा मुरैना से स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी उच्च शिक्षा के लिए भेजा गया जहां उन्होंने संस्कृत व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन किया । गुरुणां गुरु पं. गोपालदास वरैया के वे अनन्य शिष्य थे ।

पं. जी का अधिकांश समय कारंजा आश्रम की सेवा में बीता । वे वहां सन् 1918 से 1945 तक रहे और सफल अध्यापनकार्य किया । पं.

माणिकचन्द भिसीकर, माणिकचन्द चवरे, धन्यकुमार भोरे, पद्मनाभ जैनी, जयचन्द लोहाडे, सुमेरुचन्द्र दिवाकर, जगन्मोहन लाल शास्त्री आदि जैसे सुप्रतिष्ठित विद्वान पं. जी के शिष्य रहे हैं । पं. जी की अध्यापन पद्धति बडी ही प्रभावक थी । कारंजा तथा खुरई गुरुकुलों के विकास की पृष्ठभूमि में पं. जी का योगदान अविस्मरणीय है । वे कुशल शास्त्रार्थी और निस्पृही समाज सेवक थे ।

सागारधर्मामृत और पंचाध्यायी की टीकायें तथा षड्खण्डागम के सम्पादन काल में दिया गया सहयोग आपकी आगमिक प्रतिभा का निदर्शन है। वक्तृत्व की कुशलता के कारण आपको 'व्याख्यान वाचस्पति' का विरुद देकर संमानित किया गया । पं. जी एक अच्छे राजवैद्य भी थे ।

सरसेठ हुकमचन्द जी के आग्रह से आपने अपने अन्तिम समय में कारंजा को छोडकर इन्दौर को अपना आवास बना लिया । वहीं 12 मई 1950 को आपने अन्तिम सांसें लेकर इहलीला को समाप्त किया ।

सेठ हीराचंद नेमचन्द दोशी

हुमड–गुजर जाति के श्रावक हीराचन्द नेमचन्द दोशी दक्षिण महाराष्ट्र के एक सशक्त व्यक्तित्व थे जो मूलतः गुजराती थे पर महाराष्ट्र के निवासी हो गये । 5 नवम्बर 1856 को सोलापुर में जन्मे हीराचन्द की वाल्यावस्था अपने पिताश्री नेमचन्द और माताश्री रतनबाई के धार्मिक वातावरण में बीती और प्रारंभिक शिक्षा भी यहीं पूरी हुई । यहीं उन्होंने संस्कृत और जैनदर्शन का अभ्यास किया । स्वाध्याय की उनकी यह परम्परा अन्ततक चलती रही और लेखन भी उससे जुड गया । सरस्वती और लक्ष्मी का सुन्दर संगम दोशी परिवार में रहा है ।

किशोरावस्था में ही पिताश्री के देहावसान हो जाने से आपका पारिवारिक उत्तरदायित्व बढ गया । तदर्थ आपने औरंगाबाद मिल की एजेन्सी ली और साथ ही बम्बई में एक ज्वेलरी की दुकान खोली । आपको इन दोनों व्यापारों में अच्छी सफलता मिली ।

आर्थिक संपन्नता बढने के साथ ही आपकी सामाजिक सेवा में भी वृद्धि हुई । आपने 1884 में जैन बोधक मासिक पत्रिका शुरू की जिसने मराठा समाज को जाग्रत करने में अपनी अहं भूमिका अपनायी है । आपने बम्बई में ही एलक पन्नालाल दिगम्बर जैन पाठशाला की स्थापना इसी सन् 1884 में की जिसमें आयुर्वेद, आभियांत्रिकी, संस्कृत आदि विषयों की अध्यापन–व्यवस्था की गई। इसके साथ ही जैन बोर्डिंग, अनाथालय, गोरक्षाकेन्द्र, पांच ग्रन्थशालायें, मुंबई प्रान्तिक जैन सभा आदि जैसे संस्थान भी आपने स्थापित किये ।

आप स्वतन्त्रता सैनानी भी रहे । राजनीति में आकर आप सोलापुर नगरपालिका के सर्वप्रथम सदस्य बने और बाद में उपाध्यक्ष और अध्यक्ष बनकर जनता की सेवा की । आपकी इस सेवा के उपलक्ष्य में आपको 'मेकर आफ सोलापुर' के नाम से जाना जाने लगा ।

स्वाध्यायी होने के कारण साहित्यिक लेखन की ओर भी आपकी प्रतिभा जाग्रत हुई । रत्नकरण्डश्रावकाचार का हिन्दी–मराठी अनुवाद, कुन्दकुन्दाचार्य –कृत श्रावकधर्म, पूज्यपादकृत उपासकाचार, आदिपुराणातील श्रावकधर्म, तत्त्वार्थ सूत्रातील श्रावकधर्म, षोडश कारणभावना, पद्मनंदिकृत श्रावकाचार, पद्मनन्दिकृत अनित्य पंचाशत का गुजराती–मराठी अनुवाद, आपली प्रार्थना, सल्लेखना अथवा मृत्युमहोत्सव, श्रावक प्रतिक्रमण, श्री पार्श्वनाथचरित्र, श्री महावीरचरित्र, सद्बोधमालिका, व्यंतरांच्या आराधनेपासून नुकसान, शासनदेवता पूजा चर्या (हिन्दी–मराठी) भट्टारक चर्चा, पुण्य–पापके कारण, जैनकथा संग्रह, निर्माल्य चर्चा, जीवा कर्माचे बन्धन कशाने होतात आदि उनके ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। आप वस्तुतः आधुनिक मराठी जैन साहित्य के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं । अपने 1923 से 1928 तक 'सम्यक्त्व वर्धक' नामक पत्रिका का भी प्रकाशन किया । 1901 में यूनियन क्लब सोलापुर में दिये गये भाषण को 'जैनधर्माची माहिती' शीर्षक से प्रकाशित किया और उसी को हिन्दी और अंग्रेजी में भी मुद्रित किया ।

आपकी इस राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक योगदान के

उपलक्ष्य में आपका दादाभाई नौरोजी भाई की अध्यक्षता में और सर सेठ हुकुमचन्द इन्दौर के मुख्य आतिथ्य में अमृत महोत्सव मनाया गया दिसम्बर 1936 में । इसके थोडे समय बाद ही 2 फरवरी 1937 में सोलापुर में ही आपकी इहलीला समाप्त हो गई ।

दीनानाथ बापूजी मंगुडकर ने सेठ हीराचन्द नेमचन्द दोशी का जीवन चरित लिखा था जिसे सेठजी के सुपुत्र रतनचन्द हीराचन्द ने सन् 1937 में प्रकाशित किया । इसी तरह इन्दुमती सतीशचंद शहा ने अपने पिताश्री रतनचन्द हीराचंद की बडी सुन्दर आत्मकथा लिखी है ।

पण्डित कल्लाप्पा निटवे

सन् 1870 में जन्मे और 28 जनवरी 1930 में सवर्गवासी हुए कल्लाप्पा भरमाप्पा निटवे कोल्हापुर के निवासी थे । वे संस्कृत और प्राकृत के अच्छे कवि थे । कुछ वर्षों के लिए वे जैन बोधंक के सम्पादक भी रहे। उन्होंने जैनेन्द्र प्रेस भी चलाया कुंभोज बाहुबली डोंगरा के पास छात्रों के लिए एक वसतिगृह भी बनवाया । वे राजर्षि साहू महाराज के परम मित्र थे । उनकी स्वाभिमानशीलता, कर्तव्यनिष्ठा, देशप्रेम और अध्यात्मनिष्ठा हमारे लिए गौरव का विषय है ।

पं. निटवे कुशल अध्येता के साथ ही साहित्यकार भी थे । उन्होंने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का मराठी अनुवाद कर प्रथम बार उन्हें जनता के बीच प्रस्तुत किया और तत्त्वज्ञान विषयक अनेक गहन आलेख भी लिखे । आपके द्वारा अनुदित ग्रन्थों में प्रमुख ग्रन्थ हैं – उपदेशरत्नमाला, देवागम स्तोत्र, आप्त मीमांसा, सागारधर्मामृत, पंचास्तिकाय, समयसार, प्रश्नोत्तर माणिक्यमाला, सम्यक्त्व कौमुदी, जैन धर्मामृतसार, रयणसार, अमितगति श्रावकाचार, जीवन्ध रचरित, महापुराण, आदिपुराण । इनके अतिरिक्त 'महापुराणामृत' नामक एक स्वतन्त्र रचना भी प्रकाशित हुई है ।

तात्या साहेब केशवरा चोपडे

प्रसिद्ध साहित्यकार और कीर्तनकार तात्या साहेब चौपडे का जन्म 23 जून सन् 1875 में भिलवाडी (सांगली) में हुआ जहां आपने कृषक के पारिवारिक

वातावरण में रहकर प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण की । आपके पिताश्री केशवराव और माताश्री बालाबाई ने आपको जो धार्मिक संस्कार दिये उन्होंने चौपडे को एक कुशल कीर्तनकार बना दिया । कृषि का व्यवसाय करते हुए ही आपने भक्तिरस का आप्लावन किया ।

आपकी प्रकाशित रचनाओं में भजनामृत पद्यावली (1911), पूजा व सद्यःस्थिति (1924), जैन व हिन्दू (1944), भ. ऋषभदेवांचे चरित्र, आर्यमताचे खण्डन, पंढरपुरचा विठोबा, कुलभूषण–देशभूषण चरित्र, जगदुद्धारक जैनधर्म (1938), आचार्य शान्तिसागर चरित्र उल्लेखनीय हैं । पंढरपुर का विठोबा (1947) के प्रकाशित होते ही यह तथ्य सामने आया कि पंढरपुर का मन्दिर और मूर्ति मूलतः जैनधर्मावलम्बियों से सम्बद्ध है ।

अप्रकाशित रचनाओं में बुद्ध आणि जैन, जैनधर्माचे प्राचीनत्व, वाग्भट जैन की अहिंसा, बौद्धधर्म आणि जैन रक्षक, चक्रवर्ती भरत, जैनांचा प्राचीन इतिहास, कोल्हापुरची अम्बाबाई, जैनमय जगत, सम्राट् चन्द्र गुप्त, सम्राट् अशोक, जैन भरतचा प्राचीन इतिहास, अद्वितीय जैन जगत, एक हजार वर्षापूर्वी हेच हिन्दू जैन होते, और कीर्तनातील निवडक गोष्ठी आदि। ये ग्रन्थ आज भी प्रकाशन की वाट देख रहे हैं।

तात्या साहेब की साहित्य कारिता और कीर्तनशैली से प्रभावित होकर आपको आळंद जिल्हा हैदराबाद समाज की ओर से 'जिनदासभूषण' और कुंथलगिरि पर' जैनधर्म भूषण का अलंकरण प्रदान किया गया। इसी तरह 1913 में भिलवाडा समाज ने आपको 'कीर्तन सम्राट' से अलंकृत किया ।

ऐसे भक्ति संगीतकार चौपडे का शारीरिक अवसान 9 दिसम्बर 1950 को भिलवाडी में हो गया। पर उनकी यशोगाथा आज भी सुनी जा सकती है।

अण्णासाहेब लट्ठे

कोल्हापुर के श्रीमंत बाबाजी एवं आऊबाई के सुपुत्र अण्णा साहेब लट्ठे का जन्म कुरून्दवाड गांव में 9 दिसम्बर 1878 को हुआ उनकी प्रारंभिक शिक्षा

पूरी होने के बाद उन्हें सांगली भेज दिया गया और बाद में कोल्हापुर पुणे से 1903 में बी.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की और बम्बई से एम.ए. स्वर्णपदक लेकर प्रान्त में प्रथम एम.ए. छात्र होने का गौरव प्राप्त किया । तदर्थ मुंबई प्रान्तिक जैन समाज ने आपका बडा सम्मान किया । बाद में 1916 में बेलगाम से एल–एल. बी. परीक्षा पास की ।

परिवार के धार्मिक और सामाजिक संस्कारों ने आपको प्रारम्भ से ही सामाजिक कार्यकर्ता बना दिया । 21 वर्ष की ही अवस्था में आपने दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा की स्थापना की जो बाद में दक्षिण भारत जैन महासभा के रूप में परिवर्तित हो गई । 1907 में राजाराम कालेज कोल्हापुर में प्राध्यापक और प्राचार्य हुए । बाद में 1911 से 1914 तक छत्रपति साहू महाराज के पास रहे । यहीं आप आनरेरी सिटी मजिस्ट्रेट रहे और 1916 से 1920 तक वकालात भी की । 1925 में दीवान बनाये गये जहां रहकर अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक कार्य किये । पंचायत शासन की स्थापना करते हुए कोल्हापुर बैंक, महावीर बैंक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज आदि संस्थाओं से भी संबद्ध रहे । साक्षरता, स्त्रीशिक्षण और अन्तर्जातीय विवाह जैसे समाज सुधार के कार्यों के अधिकाधिक प्रभावी बनाने के लिए अपनी सर्विस से भी अवकाश ले लिया । राजनीतिक क्षेत्र में भी आप एक प्रभावक नेता के रूप में काम करते रहे । महाराष्ट्र प्रान्त के अर्थमन्त्री रहकर अपने समूचे प्रान्त की प्रशंसनीय सेवा भी की । सुधारवादी आन्दोलनों से उन्होंने जैन महिला समाज में ज्ञान पिपासा जाग्रत की और पारम्परिक रूढियों को तोड़ने का वातावरण तैयार किया ।

साहित्यिक क्षेत्र भी आपसे अछूता नहीं रहा । जिनविजय पत्रिका के आप सफल सम्पादक रहे । इसके अतिरिक्त अंग्रेजी और मराठी में छत्रपति शाहू महाराज चरित्र, Out lines of Jainism हिन्दुस्तानातील ब्रिटिश साम्राज्याचे उदय, Problems of Indiam States, Federal Constitutions of the World आदि जैसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखकर आपने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया । समूची सेवा के उपलक्ष्य में म्युनिसपल कार्पोरेशन सेन्ट्रल को आपरेटिव बैंक आदि अनेक संस्थानों ने आपका गौरव पूर्ण सम्मान भी किया।

अण्णा साहेब लट्ठे साहित्य, समाज और देश की सेवा करते हुए बेलगाम में 16 मई 1950 को सभी को विलखते हुए छोडकर स्वर्गवासी हो गये ।

बाबगोंडा भुजगोंडा पाटिल

प्रख्यात समाजसेवक बाबगोंडा भुजगोंडा पाटिल का जन्म समदोली (सांगली) में 12 दिसम्बर 1880 को पिताश्री भुजगोंडा पाटिल और माताश्री रूक्मणिबाई के घर हुआ । प्रारम्भिक शिक्षा सांगली में हुई और बी.ए. विल्सन कालेज बम्बई से किया । बाद में 1920 में एल–एल. बी. परीक्षा भी उत्तीर्ण की। इतनी शिक्षा होने के बावजूद आपने नौकरी करने की अपेक्षा व्यापार करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा । अनाज का व्यापार करते हुए आप समाज सेवा में भी लगे रहे । रत्नाकर बैंक, सांगली संस्थान, लट्ठे एजुकेशन सोसायटी, रत्नाकर प्रोडक्टस लिमिटेड संस्थानों को खडा करने में आपकी अहं भूमिका रही है ।

आप जैन दर्शन और साहित्य के भी मर्मज्ञ थे । ऐतिहासिक जैनवीर (1934), दक्षिण भारत जैन व जैनधर्म (1938), रत्नकरण्ड श्रावकाचार (1943) महावीर वाणी (1956), रायबाग, दुबिनबागे, अहिंसा (1946), जैन हे हिन्दू नव्हेत, भगवान् महावीरांचे महावीरत्व, सम्राट् खारबेल आदि आपकी महत्त्वपूर्ण कृतियां हैं । इसके साथ ही 1924 से 1946 तक 'जिनविजय' के कुशल सम्पादक भी रहे । यह पत्रिका अब 'प्रगति आणि जिनविजय' के नाम से लोकप्रिय है ।

लगभग सत्तर वर्ष अवस्था तक इस निष्काम साधक ने साहित्य साधना की और 1955 में इहलोक से नाता तोड लिया ।

दत्तात्रय भिमाणी रणदिवे

अतिशय प्रतिभा सम्पन्न और क्रान्तिदर्शी दत्तात्रय भिमाणी रणदिवे मिरज गांव (अहमदनगर) में 6 जुलाई 1880 को माताश्री सुन्दराबाई की कूख से हुए । प्रारम्भिक शिक्षा यहीं लेने के बाद उच्च शिक्षा के लिए आप अहमदनगर गये जहां एम.ए. तक की विशिष्ट शिक्षा ग्रहण की । इसके पूर्व ही

15 वर्ष की अवस्था में आपका विवाह शेतवाल समाज की ही जमनाबाई के साथ हो गया ।

आप एक सिद्धहस्त मराठी कवि और लेखक होने के साथ ही कर्मठ समाज सुधारक भी रहे हैं। सामाजिक सुधार की अवधारणायें आपके साहित्य में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है । समता, स्वातन्त्रस और पारस्परिक सहयोग उनकी समाज सुधारणा की धुरी रही हैं ।

महावीर स्तवन, प्रभु जन्मोत्सव गीत, दोगा जैनांचा संवाद, जिनपद्य रत्नावली, साध्वी नीली चरित (1915), कुलभूषण–देशभूषण चरित्र सुधा (1909), जय कुमार सुलोचना काव्य (1949), दुःखाश्रुहार, अश्रु कुसुमांजलि, नाईकांचे बोल, पाटिल निवडले, वर्णाश्रम विलाप, शिखरजी विलाप, 'प्रभु जन्मोत्सव गीत', नादलहरी, महामण्डलेश्वर अभिनव काव्य माला, श्रेणिकचरित्र, रत्नकरण्ड, भक्तिपदसंग्रह, आदि काव्य रचनायें बडी लोकप्रिय हैं । संजीवन, सूमती आदि पत्रिकाओं के आप सम्पादक भी रहे हैं । सुरस ग्रन्थ प्रसारक मण्डली की स्थापना पूना में करके आपने साहित्यप्रसार करने का बीडा भी उठाया था ।

अंजना सुन्दरी, खरी आर्यकन्या, कुमुदिनी सुधांशु, शैशव सहचरी, राष्ट्रीय जीवन, नयनतारा, नगरतारका, अजब कारस्तान, प्रबाल द्वीप, महात्मा गांधीचा कारावास, साठ वर्षापूर्वी, एक्यातच मौज, मोहिनी, व्यापारी सृष्टि, कुमुदचन्द्र, मयूख, चन्द्रकान्ता, अजनी सुन्दरी, प्रेमाश्रय, विजयी, प्रतिभा, जगाचा बाजार, बनव्यातील फुल, गौर देवदूत, जटाशंकर, जग हे असे आहे, मनोरमा, तेजस्वी, तारका, रूपिणी, मृगेन्द्र लीला और चन्द्रिका आदि लगभग बीस उपन्यास सुपरिचित ही हैं ।

डाक्टरचा कांदा और पुनर्जन्म आपके प्रसिद्ध नाटक हैं और दादाच्या चुकीचे फल, अरेबियन नाईट्स मधून चुकून राहिलेली गोष्ठ जैसी कुछ लघुकथायें हैं । स्फुट रचनाओं में सीता की शील परीक्षा, आर्यरत्नकरण्डक, जैनवाङ्मय विलास, जिनगुणालाप, रूपिणी आदि उल्लेखनीय हैं । सुमति, सहस्रकर, संजीवन, वाग्विलास, विजयी और मराठा जैसी पत्रिकाओं के आप

सम्पादक भी रहे हैं । आपके इस साहित्यिक लेखन के लिए आपको डेक्कन व्हर्नाकुलर सोयटी द्वारा 'मनोरमा' पर पुरस्कृत किया गया और महाराष्ट्र शासन द्वारा भी आपको मरणोपरान्त सम्मानित किया गया । इनके अतिरिक्त आप और भी अनेक सम्मानों से विभूषित हुए ।

जैन संस्कृति के इस कर्मठ प्रचारक का अवसान सन् 1929 में हो गया। आपको मराठी के प्रसिद्ध कवि केशवसुत के समकक्ष रखा जा सकता है । जैन कथाओं पर आधारित आपने लगभग पच्चीस उपन्यास लिखे जो बडे लोकप्रिय हुए । आज भी आपका साहित्य उत्तमकोटि में गिना जाता है । 1981 में आपकी जन्मशताब्दी भी मनाई गयी थी ।

नेमचन्द और गणपतराव चवडे

वर्धा का चवडे परिवार प्राचीन मराठी साहित्य का संरक्षक रहा है। चवडे तीन भाई थे जिनदास, नेमचन्द और गणपतराव । जिनदास जैन साहित्य के प्रकाशक के रूप में प्रसिद्ध हुए । नेमचन्द चवडे ने जैन धर्मामृतसार, जैनव्रतकथा संग्रह तथा संगीत निर्वाण क्षेत्र पूजा 1894 में, संगीत सुशील मनोरमा नाटक 1902 में, जैन भजनामृत संगीत पद 1910 में संगीत जैन कीर्तनावली 1918 में तथा सीताशील माहात्म्य व लवांकुश चरित्र 925 में लिखा । गणपतराव चवडे ने संगीत गर्वपरिहार नाटक (1907) तथा हनुमान चरित्र (1912) ये दो पुस्तकें लिखीं । आपने 'जैन बन्धु' मासिक पत्र (1908) का भी कुछ वर्ष सम्पादन किया ।

कृष्णाजी नारायण जोशी

बेलगांव निवासी कृष्णाजी नारायण जोशी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने 1897–98 में अपना लेखन प्रारम्भ किया और धीरे–धीरे उन्होंने अनेक ग्रन्थों का मराठी अनुवाद कर दिया । उदाहरणार्थ– अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय, नेमिचन्द्राचार्यकृत द्रव्यसंग्रह, हरिचन्दकृत धर्मशर्माभ्युदय (प्रथम तीन सर्ग), सकलकीर्तिकृत सुभाषितावली, मल्लिषेणाचार्यकृत सज्जनचित्तबल्लभ तथा समन्तभद्राचार्यकृत जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र । ये पुस्तकें बालचन्द कस्तूरचन्द गांधी धाराशिव ने अपने प्रकाशन से प्रकाशित कराई थीं ।

नाना रामचन्द्र नाग

फलटण निवासी नाना रामचन्द्र नाग मूलतः ब्राह्मण विद्वान थे पर जैनधर्म का अध्ययन करने के बाद उनका झुकाव जैनधर्म की ओर बढ गया । संयोग से हीराचन्द अमोलक (1839–1892) फलटण आये और उनका उपदेश सुनकर नाना जैनधर्म में दीक्षित हो गये । हीराचन्द अच्छे विद्वान कवि थे । उन्होंने नलचरित्र, पंचपूजा, तथा जैन रामायण नामक पुस्तकों की रचना की थी । नाना ने उनके द्वारा विरचित पदों का एक संग्रह प्रकाशित किया था जिसमें 100 पद हिन्दी के और 12 पद मराठी के थे । इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र (1905), प्रतिक्रमण (1913), तथा भावपाहुड (1928) ग्रन्थों का अनुवाद तथा भारतीय सचित्र बालबोध भी उनके ग्रन्थ हैं ।

अप्पा भाऊ मगदूम

सांगली वासी जैन इतिहासज्ञ अप्पा भाऊ मगदूम अच्छे सामाजिक कार्यकर्ता रहे हैं । सांगली की ही वीरग्रन्थमाला के संचालक भी रहे हैं और अनेक आयोजनों के माध्यम से उन्होंने जैन समाज में इतिहास के प्रति अभिरूचि जागृत की । नेमिसागरचरित (1934), सप्त सम्राट (1936), जैन वीर स्त्रियां (1936), चौदा रत्ने (आचार्य जीवन परिचय) 1941, तथा वनराज (1945) आदि उनकी प्रमुख कृतियां हैं ।

आचार्य समन्तभद्र महाराज

गुरूकुल प्रणाली के प्रवर्तक/पुनरूद्धारक आचार्य समन्तभद्र एक तेजस्वी ओर प्रभावक साधु थे । उनका जन्म यद्यपि 19 वीं शती (1991 सोलापुर) में हुआ पर कार्यकाल बीसवीं शती का रहा । वे महाराष्ट्र के पं. गोपालदास वरैया थे । उनके पिताश्री कस्तूरचंद और माताश्री कंकुबाई ने बालक देवचन्द को ऐसा आध्यात्मिक वातावरण दिया कि आधुनिक शिक्षा पाने पर भी वे अनगारावस्था की ओर बढ चले । क्रान्तिकारी स्व. अर्जुनलाल सेठी उनके प्रेरणा स्रोत थे । स्वयं ही ब्रह्मचर्यव्रत लेकर उन्होंने गुरुकुल पद्धति से जैन समाज में शिक्षा देने का संकल्प ले लिया।

गुरुकुल पद्धति का सूत्रपात हुआ कारंजा में । और उसके बाद तो सोलापुर, नवागढ, कुन्थलगरि, बाहुबली (कुंभोज), एलोरा, देवलगांवराजा, स्तवनिधि (कर्नाटक), गजकथा, बेबागेवाडी, रामटेक, तेरदल, कारकल और खुरई (म.प्र.) में भी गुरुकुलों की स्थापना शुरू हो गई । इन गुरुकुलों से जैन समाज में कितना शैक्षणिक और चारित्रिक विकास हुआ है, यह हम सब अच्छी तरह से जानते ही हैं । उनमें जैन मन्दिर होते है, नैतिक शिक्षा दी जाती है, ग्रन्थ–प्रकाशन होता है, और शोध–प्रवृत्तियां भी होती हैं । इनके अतिरिक्त बेलगांव, **तेरदाल**, अक्किवाद, जयसिंगपुर, बारामती, सोलापुर में आचार्य श्री की ही प्रेरणा से महाविद्यालयों की भी स्थापना हुई ।

देवचन्द काका के इस कार्य में ब्र. माणिकचंद चवरे, माणिकचन्द्र भिसीकर, नरेन्द्रकुमार भिसीकर आदि ब्रह्मचारी वर्ग ने विशेष सहयोग दिया। 1933 में उन्होंने आचार्य श्री शान्तिसागरजी से छुल्लक दीक्षा ग्रहण कर ली इससे उनके ब्रह्मचारी शिष्य वर्ग पर गुरुकुलों की देखभाल का अधिक उत्तरदायित्व आ पडा । महाराजश्री के मार्गदर्शन, दान–प्रेरणा, लक्ष्य–पूर्ति आदि साधनों के एकत्रीकरण से गुरुकुलों की सारी व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही ।

1952 में महाराजश्री ने जिनेन्द्र देव के समक्ष, स्वयं ही मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली । यह उनके आत्मकल्याण की प्रकर्षता थी । उन्होंने आत्मकल्याण में संस्था को बाधक नहीं बनने दिया । संस्थानों के विकास के लिए उनकी उपस्थिति ही पर्याप्त रहा करती । पं. देवकीनन्दन जी शास्त्री की असामयिक मृत्यु ने कदाचित् उन्हें मुनि बनने की प्रेरणा दी ।

अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ तीर्थक्षेत्र को श्वेताम्बर समाज ने हथियाने का प्रयत्न किया, मुकद्दमेबाजी हुई । इससे महाराजश्री बडे व्यथित हुए । उन्होंने तीर्थरक्षा फण्ड में एक करोड रुपये एकत्रित करने के लिए अपने शिष्यों को प्रेरित किया। मुनिश्री आर्यनन्दीजी ने इस आदेश को व्रत के रूप में स्वीकार किया और उसकी पूर्ति के लिये दृढप्रतिज्ञ और गतिशील हो गये ।

आचार्य श्री के जिन कर्मठ शिष्यों ने उनकी गुरुकुल प्रणाली को संवर्धित और पोषित करने में अथक योगदान दिया, वे हैं – ब्र. माणिकचंद चवरे, ब्र. देवचन्द जोहरापुरकर, ब्र. नरेन्द्र कुमार भिसीकर, पं. धन्यकुमार भोरे, ब्र. माणिकचन्द शहा, ब्र. अजितकुमार कर्के, ब्र. पं. सुमेरचन्द, ब्र. बालचन्द शहा, ब्र. भूपाल दलाल, पं. देवकीनन्दन शास्त्री, प्रद्युम्न साव, माणिकचन्द माहोलकर, शान्तिकुमार लोहाडे, जयचन्द लोहाडे आदि ।

हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, कन्नड, अंग्रेजी भाषाओं के प्रबुद्ध ज्ञाता आचार्यश्री की ही प्रेरणा से जीवराज ग्रन्थमाला सोलापुर की स्थापना हुई जिससे शताधिक उच्चकोटि के जैन ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ और आज भी हो रहा है ।

आचार्यश्री कुम्भोज बाहुबली में रहकर ही समूचा ज्ञानयज्ञ करते रहे और साथ ही आध्यात्मिक साधना में भी पूरी गहराई के साथ जुटे रहे । अन्त में 18. 8.88 को सल्लेखना पूर्वक उनकी समाधि हुई । उनका अथ से इति तक का सारा जीवन समाज को प्रबुद्ध बनाने में ही बीता जिसके लिए समाज उनका सदैव आभारी रहेगा । वे वस्तुतः महाराष्ट्र के लिए पूज्य गणेश प्रसाद वर्णी थे।

सेठ रावजी नेमचन्द शहा

कुशल साहित्यकार और समाजसेवी सेठ रावजी नेमचन्द शहा का जन्म सोलापुर में सन् 1890 में हुआ । 1912 में पूना से एल–एल. बी पास कर वकालात के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया । अंग्रेजी, संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और मराठी पर उनका अच्छा अधिकार था । वे एक प्रभावक वक्ता और सिद्धहस्त लेखक भी थे ।

समाज सेवा के क्षेत्र में भी उन्होंने यथायोग्य योगदान दिया। हरिजन और पिछडे वर्ग के विकास के वे पक्षधर रहे हैं । कोल्हापुर के भट्टारक लक्ष्मीसेन के नेतृत्व में उन्होंने समाज सेवा का जो व्रत लिया था उसे वे पूर्ण करने में जुटे रहे । जैनधर्म पर जब भी कोई आरोप लगा या किसी तरह का आक्रमण हुआ, आपने सदैव उसका यथाशक्य प्रतिकार किया । अखिल विश्व जैन मिशन,

भारत जैन महामण्डल, दक्षिण भारत जैन महामण्डल आदि संस्थाओं से भी आप जुड़े रहे हैं ।

जैनधर्मादर्श (मराठी) आपकी प्रमुख कृति है (1910) जिसका भरपूर उपयोग 'जैन ज्ञानकोश' बनाने में विद्वद्वरेण्य 'अज्ञात' ने किया है । सामायिक पाठ, समाधि शतक (1912), महापुराणामृत जिन शासन (1915) तीर्थंकरों की प्राचीनता (1938) और जैनशासन, जैन साहित्य सृष्टि, Jain code of Jainism, पूज्यपादाचार्यचरित, अमृतचन्द्राचार्य चरित, जैनधर्म पर आक्षिप्त विधान और निरसन (1938) आदि आपकी अन्य कृतियां है । 'प्रगति आणि जिनविजय' का आपने सहसंपादन भी किया है । इन सभी के उपलक्ष्य में आपको 1946 में जगन्नाथ पुरी के शंकराचार्य द्वारा "वाङ्मय प्रदीप" की उपाधि से संमानित किया गया था।

पण्डित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले

न्याय, व्याकरण, दर्शन और साहित्य में निष्णात पं. जिनदास पार्श्वनाथ फडकुले का जन्म माताश्री प्रयागबाई के कुक्षि से सन् 1894 में सोलापुर में हुआ। आपके दादा परदादा गोपालराव गोविन्दराव फडकुले मूलतः गुलवर्गा (उस्मानाबाद) के निवासी थे । आपके परिवार में प्रारम्भ से ही साहित्यिक अभिरुचि थी । सभी लोग प्राचीन पाण्डुलिपियों के लेखन और अध्ययन में अपना अमूल्य समय दिया करते थे । आज भी ये ग्रन्थ आदिनाथ जैन मन्दिर सोलापुर में सुरक्षित हैं ।

पं. जिनदास अपनी प्रारंभिक शिक्षा सोलापुर में ही पूर्णकर न्याय, व्याकरण आदि का गंभीर अध्ययन करने के लिए पं. वंशीधरशास्त्री न्यायालंकार और पं. गोपालदास वरैया न्यायतीर्थ के पास मुरैना चले गये। वहां आपने न्यायतीर्थ उपाधि प्राप्त की । वहां से 1919 में आकर आप कुछ समय एलक पन्नालाल दिगम्बर जैन पाठशाला में धर्माध्यापक का कार्यभार सम्हाला। 1919 से 1950 तक मराठी जैन बोधक के अवैतनिक सम्पादक रहकर आपने समाज में अपने अग्रलेखों से अच्छी जाग्रति उत्पन्न की ।

पं. जी कुशल कवि और टीकाकार भी थे । धर्मशर्माभ्युदय टीका इसका प्रमाण है । आपने सुदर्शनचरित्र, सुकुमारचरित्र, वरांगचरित्र, प्रीतिंकरचरित्र, नागकुमारचरित्र, वर्धमानचरित्र, शान्तिनाथ पुराण आदि ग्रन्थों का हिन्दी से मराठी में अनुवाद कर मराठी भाषी समुदाय को नया ज्ञान–क्षितिज दिया । आपने सुभाषितावली, भगवती आराधना, प्रश्नोत्तर रत्नमाला, गोमट्टसार जीवकाण्ड आदि लगभग 50 ग्रन्थों का मराठी गद्य–पद्य में अनुवाद कर मराठी साहित्य को समृद्ध किया है । आपने पाण्डवपुराण तथा सिद्धान्त सार संग्रह आदि ग्रन्थों का संपादन तथा हिन्दी अनुवाद भी किया।

आप वस्तुतः मराठी और हिन्दी के सफल अनुवादक थे । लगभग 50 ग्रन्थों का आपका मराठी अनुवाद प्रकाश में आया है जिनमें कतिपय और भी उल्लेखनीय हैं – स्वयंभूस्तोत्र (1920), पात्रकेशरीकृत जिनेन्द्र गुणस्तुति तथा आचार्य विद्यानन्द कृत श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र (1920), कुन्दकुन्दाचार्य तथा पूज्यपादाचार्यकृत दशभक्ति (1921), शिवकोट्याचार्यकृत रत्नमाला (1921), सोमदेवसूरिकृत द्वादशानुप्रेक्षा (1923), अमितगतिकृत तत्त्वभावना (1924), देवसेनकृत भावसंग्रह (1927), मल्लिषेणकृत नागकुमार चरित (1927), सकलकीर्ति विरचित सुदर्शनचरित (1927) तथा श्रीपालचरित (1963), असंगकृत वर्ध –मानचरित (1931), कुंथुसागरकृत बोधामृतसार (1938), नेमिदत्तकृत रात्रिभोजन त्यागकथा (1956), जैन रामायण, (रविषेणकृत पद्मपुराण) (1965) ।

भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति

देवेन्द्रकीर्ति नामके लगभग 25 भट्टारक और विद्वान हुए हैं । यहां हमारी कालावधि में कारंजा के दो भट्टारकों का नाम आता है । एक तो वे हैं जिनका जन्म सं. 1916 में हुआ । अल्पावस्था में ही आपने अमोलकचंद से दीक्षा ली और 41 वें वर्ष में उनका पट्टाभिषेक हो गया । उन्होंने कारंजा गद्दी के ग्रन्थ भण्डार को सुव्यवस्थित किया, अनेक प्रतिष्ठायें करायीं और स्वाध्याय किया/कराया । सन् 1917 में उनका देहावसान हो गया ।

द्वितीय देवेन्द्रकीर्ति (कालुरामजी) बलात्कारगण कारंजा शाखा के ही रत्नकीर्ति भट्टारक के शिष्य थे । सं. 1957 में वे गद्दी पर बैठे और सं. 1973 में वे स्वर्गवासी हो गये । आपके बाद कोई भी भट्टारक कारंजा की गद्दी पर आसीन नहीं हुआ । आपके लगभग 200 हिन्दी पदों का मराठी अनुवाद 1895 में प्रकाशित हुआ था । यहां आपका उपनाम 'अनाथ' मिलता है ।

ऐलक चन्द्रसागर

ऐलक चन्द्रसागर का गृहस्थावस्था का नाम पुरुषोत्तम था । उनका जन्म फलटण निवासी केशवचन्द्र की पत्नी बालूबाई के कुक्षि से वि. सं. 1917 में हुआ । सं. 1940 में विवाह हुआ और चार पुत्र और चार पुत्रिया हुईं । कपड़ा और किराना का व्यापार करते हुए अध्यात्म की ओर भी उनका अधिक झुकाव था । फलतः ऐलक पन्नालाल जी के पास सोलापुर में उन्होंने पंचाणुव्रत लिये और 1969 में कुरुंदवाड में मुनि जिनाप्पा स्वामी के पास क्षुल्लक दीक्षा ले ली और 1970 में ऐलक बन गये। इसके कुछेक वर्षों के बाद ही समाधिमरण पूर्वक समाधि को प्राप्त हुए।

डॉ. हीरालाल जैन

बहुभाषाविद् और जैन संस्कृति विशेषज्ञ डॉ. हीरालाल जैन का जन्म 18 सितम्बर सन् 1899 में गागई ग्राम (नरसिंहपुर म. प्र.) में हुआ । प्रारम्भिक शिक्षा नरसिंहपुर और जबलपुर में और बाद में इलाहाबद से बी.ए., एम.ए. (संस्कृत) 1922 में किया । और उत्तरप्रदेश सरकार की शोधवृत्ति पर 1925 में जैन साहित्य पर पी–एच.डी. कर मध्यप्रदेश सरकार की नियुक्ति से अमरावती कालेज में संस्कृत के प्राध्यापक पद पर काम करने लगे ।

1925 से लगभग 1960 तक अमरावती और नागपुर के सरकारी महाविद्यालयों मे कार्यरत रहे। यहीं से कारंजा के शास्त्र भण्डार को प्रकाश में लाने का श्रेय आपको ही जाता है । आपके ही आलेख से जैन साहित्य का ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ । षड्खण्डागम के 16 भागों का सम्पादन और अनुवाद भी आपके ही कुशल नेतृत्व में यहीं से शुरू हुआ और यहीं समाप्त भी।

यहीं कारंजा में संग्रहीत णायकुमारचरिउ, सुदर्शन चरिउ, जसहरचरिउ, करकण्डचरिउ, सावयधम्मदोहा, पाहुड दोहा आदि अपभ्रंश ग्रन्थों का सम्पादन किया गया और उनका प्रकाशन कारंजा ग्रन्थमाला से हुआ । गोमट्टसार की त्रुटित गाथाओं की पूर्ति भी आपने ही की । 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' तत्त्व समुच्चय, श्रवणबेलगोल शिलालेख आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकें आपकी ही प्रतिभा के प्रसून हैं ।

सेवानिवृत्ति के बाद बिहार सरकार के आग्रह पर आपने वैशाली प्राकृत शोध संस्थान को स्थापित किया, जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत–पालि–प्राकृत विभाग को विकसित किया और अनेक संस्थानों में जान फूंकी।

आपके समूचे साहित्यिक योगदान पर नागपुर विश्वविद्यालय ने आपको डी. लिट् उपाधि से सम्मानित भी किया । इसी तरह और भी अनेक सम्मानों से आपको विभूषित किया गया ।

ऐसे कर्मठ और प्रतिभापुंज का अवसान 13 मार्च 1973 को हो गया। 1999 में आपकी जन्म शताब्दी मनायी गयी और आपके सम्मान में जबलपुर के संस्कृत–पालि–प्राकृत विभाग का नाम डॉ. हीरालाल जैन संस्कृत–पालि–प्राकृत विभाग पड़ गया।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये

जैन साहित्य और दर्शन के अधिकारी विद्वान डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये ने अपनी शोधवृत्ति से समूचे प्राच्य भारतीय वाङ्मय के अध्येताओं में अपने शीर्षस्थ स्थान बना लिया। उनका जन्म सदलगा (बेलगांव) की पवित्र धरती पर 6 फरवरी सन् 1906 में हुआ ।

सदलगा में ही प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर राजाराम कालेज कोल्हापुर और विलिंग्टन कालेज सांगली से सन् 1928 में संस्कृत और अर्धभागधी भाषाऐं लेकर बी.ए. आनर्स किया और 1930 में इन्हीं विषयों में एम.ए. उतीर्ण किया । 1934 में बम्बई विश्वविद्यालय ने प्रवचनसार पर उन्हें डी. लिट् उपाधि देकर सम्मानित किया । वहीं से 1939 से 1942 तक उन्हें शोधवृत्ति भी दी गई ।

संस्कृत पालि–प्राकृत, हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड और मराठी भाषाओं के गम्भीर विद्वान डॉ. उपाध्ये ने 32 वर्ष तक लगातार राजाराम कालेज, कोल्हापुर में अर्धभागधी के प्रोफेसर का पदभार सम्हाला, 1941 में प्राच्य विद्या सम्मेलन हैदराबाद के पालि–प्राकृत और जैन–बौद्धधर्म के आप विभागीय अध्यक्ष रहे। 1962 से 1971 तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के Professor of Emeritus रहे, शिवाजी विश्वविद्यालय कोल्हापुर के कला संकाय के डीन रहे, 1966 में प्राच्य विद्या सम्मेलन अलीगढ के सामान्य अध्यक्ष रहे, 1967 में 46 वें कन्नड साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष रहे, और 1970 से 1975 तक मैसूर विश्वविद्यालय में जैनदर्शन और प्राकृत के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे ।

1971 में केनया (आस्ट्रेलिया) रहे और 1973 में पेरिस में समायोजित प्राच्यविद् विद्वानों के अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में तथा 1974 में लैवीन (बेल्जियम) में आयोजित धर्म और शान्ति के द्वितीय विश्व सम्मेलन में आपने भारतीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया । इन सम्मेलनों में प्रस्तुत आपके शोधपत्र सभी विद्वानों के कण्ठहार बन गये ।

डॉ. उपाध्ये अपने सम्पादकीय वक्तव्यों से जाने जाते रहे हैं । आपके सम्पादन की विशेषता यह रही है कि उसमें प्रतियों या पाण्डुलिपियों का विवरण, रचयिता का समय निर्धारण, विषय का समीक्षात्मक और सांस्कृतिक परिचय और भाषा का भाषावैज्ञानिक विवेचन विस्तार से अबद्ध रहा है । यह विशेषता उनके द्वारा सम्पादित निम्न लिखित ग्रन्थों में देखी जाती है –

1. जटासिंहनन्दि का वरांगचरित्र (1955) (संस्कृत महाकाव्य)
2. रामपाणिवाद का कंसवहो (प्राकृत काव्य)
3. उसानिरुज्झं (प्राकृत काव्य)
4. यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ति भाग 1–2
   (सृष्टि प्ररूपक प्राकृत ग्रन्थ)
5. हरिषेण का वृहत्कथाकोश (संस्कृत कथाकोश)
6. रूद्रदासकृत चन्द्रलेखा (प्राकृत नाटक)

7. कुतुहलकृत लीलावहो (रोमानी प्राकृत काव्य)
8. घनश्यामकृत आनन्दसुन्दरी (प्राकृत नाटक)
9. पद्मनन्दि कृत जम्बूद्वीप पण्णत्ति (सृष्टि प्ररूपक प्राकृत काव्य)
10. उद्योतन सूरिकृत कुवलयमाला (प्राकृत चम्पू काव्य)

इनके अतिरिक्त पंचसुत्तग, प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश, धूर्ताख्यान, नियमसार, धर्मपरीक्षा आदि और भी अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जिनकी सम्पादन शैली देखते ही बनती है। इसी तरह अनेकान्त, जैन सिद्धान्त भास्कर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका आदि शोधपत्रिकाओं में लगभग 200 उच्चस्तरीय शोध निबन्ध प्रकाशित हुए हैं जो आज भी शोधकों के लिए मानदण्ड बने हुए हैं ।

डॉ. उपाध्ये की प्रगाढ विद्वत्ता ने ही उन्हें मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला भारतीय ज्ञानपीठ, और जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर का सम्पादक बनाया, भारतीय ज्ञानपीठ ट्रस्ट की सदस्यता दी, जैन सिद्धान्त भास्कर, अनेकान्त आदि पत्रिकाओं का सम्पादन भार दिया, षड्खण्डागम का सहयोगी सम्पादक बनाया और वे दक्षिण भारत जैन सभा के सभापति भी चुन लिये गये । बम्बई, पूना, नागपुर आदि विश्वविद्यालयों के प्राकृत अध्ययन मण्डलों के सदस्य भी रहे । सन् 1975 में राष्ट्रपति द्वारा उन्हें राष्ट्रीय संस्कृत पण्डित की उपाधि से विभूषित किया गया। मैसूर विश्वविद्यालय, दिल्ली जैन मण्डल आदि संस्थानों ने भी उन्हें संमानित किया । स्वभाव से अत्यन्त सरल और मधुर डॉ. उपाध्ये का पर्यवसान 8 अक्टूबर 1975 को हृदयाघात के कारण हो गया। साहित्य और समाज के लिए यह एक अपूरणीय क्षति आज भी यथावत् बनी हुई है ।

आचार्य आर्यनन्दी महाराज

तीर्थोद्धारक आचार्य श्री आर्यनन्दी महाराज का जन्म मराठवाडा के ठोरकीन ग्राम में एक दि. जैन जैसवाल परिवार में हुआ । 28 फरवरी 1907 को पिताश्री लक्षमणराव और माताश्री कृष्णाबाई की आर्थिक परिस्थिति अत्यन्त नाजुक होने के कारण शंकर मात्र बारहवीं तक पढ़ सका और अल्प वय में ही

उसे गृहस्थावस्था में प्रवेश करना पड़ा । उसने निजाम के कस्टम आफिस में पेशकार के पद पर काम कर अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व का निर्वाह किया।

शंकर अपने धार्मिक और नैतिक संस्कारों के कारण अधिक समय तक गृहस्थी के जंजाल में फंसा नहीं रह सका । उसकी वैराग्य अवधारणा उसे कुंथलगिरि खींच ले गयी जहां आचार्यश्री समन्तभद्र मुनि विराजमान थे । उनसे उसने 13 नवम्बर 1959 को मुनि दीक्षा ग्रहण कर आर्यनन्दी नाम पाया और गहन स्वाध्याय में जुट गया । व्यसनमुक्ति, णमोकारमन्त्र आदि को आपने आन्दोलन के रूप में स्वीकार किया । लगभग 15 ग्रन्थों का मराठी अनुवाद भी उन्होंने किया है ।

मुनिश्री ने आचार्य समन्तभद्र के हर स्वप्न को साकार करने का यथाशक्य प्रयत्न किया । एलोरा और नवागढ गुरुकुल के संचालन और व्यवस्था की सारी जिम्मेदारी अन्त तक अपने कन्धों पर उन्होंने ही ली । तीर्थरक्षा के फण्ड को एक करोड तक पहुंचाने के लिए उन्होंने सारे भारतवर्ष को 33000 कि.मी. चलकर अपने पैरों से नाप डाला । और अन्त में 7 फरवरी 2002 को नवागढ तीर्थक्षेत्र (महाराष्ट्र) पर उन्होंने सल्लेखना पूर्वक समाधिकरण किया।

पण्डित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

जैन सिद्धान्त मर्मज्ञ पं. बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री का जन्म सोंरई (झांसी) उ. प्र. में सं. 1962 में हुआ । 1921 से 1928 तक स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी में रहकर आपने नव्यन्याय, जैन सिद्धान्त आदि का अध्ययन किया और मथुरा, गुना आदि स्थानों पर अध्ययन कार्य किया । 1940 से षड्खण्डागम के सम्पादन के सन्दर्भ में आप धवला ऑफिस अमरावती और जीवराज जैन ग्रन्थमाला सोलापुर में लगभग बीस वर्ष तक रहे।

पं. जी का अधिकांश साहित्यिक कार्य महाराष्ट्र में रहते हुए ही हुआ है। षड्खण्डागम भाग 6 से 16 का सम्पादन और अनुवाद आपके ही सहयोग

से नागपुर और अमरावती में पूरा हो सका है । इनके अतिरिक्त तिलोय–पण्णत्ति, भाग 1–2, जंबूदीवपण्णत्ति, आत्मानुशासन, पद्मनंदि पंचविंशतिका, लोकविभाग, पुण्याश्रवकथाकोश, ज्ञानार्णव, धर्म परीक्षा, जैन लक्षणावली 4 भाग, ध्यानशतक एवं ध्यानस्तव, श्रावकप्रज्ञप्ति, सुभाषित रत्नसंदोह, षड्खण्डागम परिशीलन आदि ग्रन्थ आपके द्वारा सम्पादित और अनुदित हैं । अनेकान्त आदि पत्रिकाओं में आपके शोधपरक आलेख प्रारम्भ से ही छपते आ रहे हैं ।

सोलापुर की अनेक साहित्यिक संस्थाओं से भी आप संबद्ध रहे हैं। लोकविभाग पर आपको भारतीय ज्ञानपीठ से विशेष पुरस्कार और 'धर्मदिवाकर' की उपाधि से विभूषित भी किया गया था। मेरठ, सागर, सोलापुर, दिल्ली आदि और भी संस्थानों से आपको सम्मानित किया गया था। परन्तु इन सभी सम्मानों से पं. जी सदैव अलिप्त रहे हैं । वे वस्तुतः मौन साधक थे, निश्छल और सरल प्रकृति के थे । अन्तिम समय में आप अपने छोटे पुत्र सुरेन्द्रकुमारजी के पास हैदराबाद में रहे और वहीं 17 अप्रेल 1991 में उनका देहावसान हो गया । उनके अवसान से प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन एवं अनुवाद के क्षेत्र में जो रिक्तता आयी है उसको भरना सरल नहीं है।

तात्याराव नेमिनाथ पांगळ

बारसी (सोलापुर में जन्मे) तात्याराव नेमिनाथ पांगळ जैनधर्म और इतिहास के गहन अध्येता रहे। 1913 में पूना की वसन्त व्याख्यान शाला में दिया गया आपका भाषण इसका प्रतीक है । आपके पिताश्री अनन्तराज भी अच्छे कवि और साहित्यकार थे । आपने अपनी सुरस ग्रन्थमाला से अनेक सुन्दर जैन ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया है । आपके द्वारा गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण पर मराठी में लिखे गये तीर्थंकरों के सचित्र चरित, एक उल्लेखनीय योगदान है । रत्नत्रयमार्गप्रदीप (1905), पद्यावली (पिताश्री के भक्तिपदों का संकलन), पंचकल्याणक तथा सती अनन्तमती (1906), जैनधर्म, चौबीस तीर्थंकर चरित्र, रत्नत्रय, कुन्दकुन्दाचार्य चरित्र (1907), वन्दे जिनवरम् (1908) मासिक पत्र का सम्पादन, तीर्थंकर चरित्र (1909), अभंग आदि और भी अनेक रचनायें हैं ।

आपने जैन इतिहास पर भी कई पुस्तिकायें और उपन्यास लिखे हैं । महाराष्ट्र जैन साहित्य परिषद आदि के अध्यक्ष भी रहे हैं । 1947 में आप सल्लेखना पूर्वक चल बसे ।

पण्डित तेजपाल काला

एक साधारण परिस्थिति में सं. 1961 में नादगांव (अमरावती) में जन्मे पं. तेजपाल काला का प्रारंभिक शिक्षण अमरावती में अपने ताऊश्री चन्द्रभान के घर में हुआ । बाद में आपके पिताश्री मूलचन्दजी भी सपत्नीक अमरावती में स्थानान्तरित हो गये । ताऊजी अच्छे पण्डित थे, समयसार के ज्ञाता थे, और पर्युषण पर्व में प्रवचन भी किया करते थे । इसी वातावरण ने तेजपालजी को विद्वान बना दिया।

आप अमरावती से बम्बई गये । वहाँ अपनी गृहस्थी चलाने के लिए कपडे का व्यापार किया, किराने और अनाज की भी दुकान की । यहीं आपका सम्पर्क अनेक विद्वानों से हुआ और फलतः अपने अध्यवसाय से स्वयं भी विद्वान हो गये । रत्नकरण्डश्रावकाचार, धनंजय नाममाला और तत्त्वार्थसूत्र के अध्ययन से प्रवचन शैली में भी निखार आ गया ।

सन् 1954 में आप जैन दर्शन के सह सम्पादक, 1964 में दि. जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा के सहायक मन्त्री, भारतवर्षीय दि. जैन महासभा की प्रबन्धकारिणी के प्रतिनिधि, शान्तिवीर दि. जैन सिद्धान्तसेवी सभा की प्रबन्धकारिणी के सभासद जैसी सामाजिक संस्थाओं से आपका गहरा सम्बन्ध रहा है । आप मल्लिसागर दि. जैन ग्रन्थमाला के 22 वर्ष तक मन्त्री रहे और अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया । चन्द्रभाग औषधालय के मन्त्री और गजपंथा सिद्धक्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के सदस्य रहकर भी आपने अच्छी सामाजिक सेवा की ।

तेजपाल जी के जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए उनकी पत्नी जानकी देवी ने बहुत सहयोग किया । उनके ही स्नेहिल सहयोग से पं. जी को सुखद वातावरण मिल सका । इसी से पं. जी ने 'सरल जैन विवाह पद्धति

और लोकाचार' तथा 'सुगम जैन विवाह संस्कारविधि' जैसी साधारण जनोपयोगी पुस्तकों की रचनाकर सामाजिक सेवा की ।

आचार्य आनन्दऋषिजी महाराज

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य आनन्द ऋषिजी का जन्म वि. सं. 1957 में चिंचोडी (अहमदनगर, महाराष्ट्र) ग्राम में हुआ । आपके पिताश्री गूगलिया और माताश्री हुलासाबाई एक साधारण परिवार के गृहस्थ थे । आचार्य रत्नऋषि के सान्निध्य में लगभग 13 वर्ष की अवस्था में बालक नेमचन्द्र आनन्द के नाम से प्रव्रजित हुए जिन्हे सं. 2021 में संघ के आचार्य पद से विभूषित किया गया ।

आप संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, मराठी और गुजराती भाषा के मर्मज्ञ थे और इन भाषाओं और उनके साहित्य के प्रचार–प्रसार के लिए श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी (सं. 1980), जैनधर्म प्रचारक संस्था, नागपुर (सं. 1984), महावीर पाठशाला पूना (सं. 1998), प्राकृत भाषा प्रचार समिति, पाथर्डी (सं. 2021), प्राकृत विद्यापीठ अहमदनगर, धार्मिक परीक्षा बोर्ड (सं. 1993) आदि अनेक संस्थानों की स्थापना की ।

आनन्द ऋषिजी कुशल साहित्य सर्जक भी रहे हैं । उन्होंने अनुवाद के माध्यम से मराठी साहित्य की अभिवृद्धि करना अधिक उचित समझा । इस दिशा में उनका योगदान इस प्रकार अंकित किया जा सकता है –आत्मोन्नतिचा सरल उपाय, अन्यधर्मापेक्षा जैनधर्मातील विशेषता, वैराग्यशतक, जैनदर्शन आणि जैनधर्म, जैनधर्माविषयी अजैनविद्वानांचे अभिप्राय (दो भाग), उपदेश रत्नकोश, जैनधर्माचे अहिंसातत्त्व, अहिंसा आदि । आप साहित्य सृष्टा ही नहीं, साहित्य सर्जकों के निर्माता भी रहे हैं । उनकी संयोजना से श्री रत्न पुस्तकालय, पाथर्डी से अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं – ऋषिसम्प्रदाय का इतिहास, अध्यात्म दशहरा, समाज स्थिति का दिग्दर्शन, चित्रालंकार काव्यः एक विवेचन, भ. महावीर और उनका चिन्तन आदि।

आप शब्दचित्र के निर्माता, अभिव्यक्ति के धनी, वाक्पटुता के पुजारी तथा मृदुता और सरलता के पुजारी थे । वे एक कुशल तत्त्वचिन्तक, प्रवचनकार, शिक्षा प्रसारक और कर्मठ समाजसेवक थे । वे स्कूल, कालेज और पाठशालायें स्थापित करते रहे, अध्यात्मज्योति जगाते रहे और जैन संगठन को सशक्त बनाने का संकल्प पूरा करते रहे । इसी संकल्प की पूर्ति करते हुए नवें दशक में उनका समाधिमरण हो गया।

जीवराज गौतमचन्द दोशी

ब्रह्मचारी जीवराज गौतमचन्द दोशी सोलापुर का प्रतिष्ठित, समृद्ध और स्वाध्यायनिष्ठ परिवार था । आपने 1914 से 1918 तक 'जैनबोधक' पत्रिका का सम्पादन किया । तत्त्वार्थसूत्र, आत्मानुशासन (1961), पण्डित गोपालदास वरैया कृत जैन सिद्धान्त प्रवेशिका और सार्वधर्म तथा पण्डित जुगल किशोर मुख्तारकृत ग्रन्थपरीक्षा का मराठी अनुवाद इसके पूर्व आप कर चुके थे जिनका प्रकाशन बाद में हुआ । दर्शनसार (विष्णु शास्त्री वापट द्वारा लिखित) में व्यक्त जैनधर्म पर किये गये आक्षेपों का जो उत्तर पं. वंशीधर न्यायालंकार ने दिया उसका मराठी अनुवाद (1918), आचार्य शान्तिसागर चरित (1924), जाति की मीमांसा (1925), पण्डित सदासुखकृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका का अनुवाद (1954), पं. पन्नालालकृत महापुराण की आलोचना की समीक्षा (1954) तथा भगवान् नेमिनाथ (1958) ये आपकी अन्य साहित्यिक रचनायें हैं ।

साहित्यिक अभिरुचि के साथ ही आप अच्छे दानवीर भी थे । 1941 में ग्रीष्मकाल में आपने गंजपंथा तीर्थक्षेत्र, नासिक पर एक विद्वत्संमेलन निमंत्रित किया और उसमें विचार–विमर्श कर जैन संस्कृति तथा साहित्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से जैन संस्कृति संरक्षक संघ की स्थापना की और उसके लिए 30000/– का दान दिया । इसके बाद 1944 में अपनी संपूर्ण संपत्ति लगभग दो लाख की इसी संघ को समर्पित कर दी । बाद में 16.1.57 को समाधिमरण–पूर्वक आपका स्वर्गवास हो गया । आज इसी जीवराज जैन ग्रन्थमाला से हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी के लगभग 300 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । संस्थान

के महासचिव उद्योगपति श्री काका रतनचन्द्रजी शहा के देखरेख में यह संस्थान प्रकाशन के क्षेत्र में अच्छा काम कर रहा है । उनकी निस्पृहीवृत्ति और धार्मिक लगन संस्था को और भी बढा सकती है । उसे शोध संस्थान का रूप दे दिया जाय तो जैन संस्कृति का और भी कल्याण हो सकता है ।

धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी

सोलापुर के रावजी सखाराम दोशी भी दोशी परिवार के एक अन्यतम साहित्यकार रहे हैं । उन्होंने मराठी साहित्य को प्रकाश में लाने के लिए अथक प्रयत्न किया और तदर्थ अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग भी किया । बालकोप–योगी जैनधर्म के चारों भागों का अनुवादकर उन्हें प्रकाशित किया । अन्य तरुण साहित्यकारों की कृतियों का भी अपने ही द्रव्य से प्रकाशन किया। आचार्य इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार (1912), तथा पण्डित दौलतरामकृत छहढाला (1913), आदि अनेक आपकी मराठी अनुदित कृतियां हैं । जैन कथासंग्रह (1930), तथा जैन कीर्तन तरंगणी (1931) आपकी मराठी स्वतन्त्र कृतियां हैं। आपने बीस वर्ष तक जैन बोधक का सफल सम्पादन किया और तरुण साहित्यकारों को खडा किया । इस पत्रिका ने समाज को अनेक मुद्दों पर प्रकाश दिया जो आपकी लेखनी का ही फल कहा जा सकता है ।

शान्तिनाथ यशवन्त नान्द्रे

सोलापुर वासी शान्तिनाथ यशवन्त नान्द्रे मध्यमवर्गीय परिवार के साहित्यकार थे । आपने सेठ रावजी सखाराम दोशी तथा आचार्य शान्तिसागर का जीवनचरित लिखकर समाज को उनके पथचिन्हों पर चलने के लिए प्रेरित किया था । कथा कौमुदी (1936) में कथाओं के माध्यम से सम्यक्त्व के पालन की प्रेरणा को पिरोया है । जम्बूकुमार की विरक्ति (1959) तथा सती चम्पावती (1963) आपकी अन्य सरलभाषा में लिखी कथात्मक कृतियां हैं ।

पण्डित दरबारीलाल सत्यभक्त

सं. 1956 में शाहपुर (सागर) म. प्र. में जन्में पं. दरबारीलालजी सत्यभक्त

ने पू. गणेशप्रसाद वर्णीजी के सान्निध्य में रहकर सागर में अध्ययन किया, फिर स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी के छात्र हुए और वहीं अध्यापक भी हो गये । वहां से इन्दौर महाविद्यालय में शिक्षक हुए जहां उन्होंने 'जैनदर्शन' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी । वहीं सन् 1919 में उन्होंने न्यायतीर्थ परीक्षा भी उतीर्ण की । विजातीय और विधवा विवाह के समर्थक होने के कारण उन्हें इन्दौर छोड़ना पडा । सन् 1925 में कुशल चिन्तक और समाज सुधारक के रूप में तब तक पं. जी प्रसिद्ध हो चुके थे । वे वस्तुतः एक अच्छे कवि, लेखक, विद्वान और सर्वधर्म समाज के संस्थापक थे ।

इन्दौर से पं. जी बम्बई आये और अन्त तक महाराष्ट्र में ही अपना कर्मक्षेत्र बनाये रखा । बम्बई में उन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों ने अपना लिया । जैन जगत और जैनदर्शन पत्रिकाओं के सम्पादक होने से वे अपने विचारों को और भी सशक्त ढंग से निर्भयता पूर्वक रख सके । दोनों सम्प्रदायों के बीच उन्होंने एकता के लिए भी बहुत प्रयत्न किया । जैनधर्म को आधुनिक वैज्ञानिक जगत में स्थापित करने के लिए उन्होंने 'जैनधर्म मीमांसा' नामक पुस्तक भी लिखी और वे अपने आपको सत्यभक्त कहने लगे ।

1924 में सत्यसमाज की स्थापना की । उसी समय पत्नी शान्तादेवी क्षयरोग के कारण चल बसी । कार्याधिक्य के कारण वे पत्नी का विशेष ध्यान नहीं रख सके । सत्य समाज आश्रम की स्थापना के सन्दर्भ में जमनालाल बजाज के सहयोग से वर्धा को अपना स्थायी निवास बनाया । मई 1936 में वे वर्धा आकर रहने लगे । यहीं उनका पुनर्विवाह नागपुरवासी वेणुबाई से 1937 में हो गया । महात्मा भगवानदीन इस विवाह के पुरोहित थे ।

सत्याश्रम वर्धा सत्यभक्तजी का कार्यस्थल बन गया जहां वे अन्त तक रहे । उन्होंने 'सत्यदर्शन' और संगम पत्र भी प्रारम्भ किये । अपने विचारों की आवाहक लगभग पचास पुस्तकें सत्यभक्तजी ने समाज में नयी चेतना जाग्रत की । उनके आश्रम में सत्य समाज मन्दिर भी था । मुझे उनसे मिलने का भी सौभाग्य मिला है लगभग 1980 में ।

सत्यभक्तजी ने लगभग पचास साल वर्धा में बिताये और सत्यमाज का प्रचार करते रहे । फिर भी वे जैनधर्म को नहीं भुला सके । उनमें जैनदर्शन का अगाध पाण्डित्य था और जैनधर्म में उनकी आगाध श्रद्धा भी अन्त तक बनी रही। बीसवीं शताब्दी के दशवें शतक के लगभग अन्तिम समय तक वे समाज सेवा करते रहे ।

ब्र. माणिकचंद चवरे

तात्याजी के नाम से विश्रुत ब्र. माणिकचंद जयकुमार चवरे गुरुकुल प्रणाली के समर्थक और प्रचारक थे । आचार्य समन्तभद्र महाराज के और पं. देवकीनंदन जी शास्त्री, दोनों महानुभावों के व्यक्तित्व से प्रभावित तात्याजी का जन्म जैनों की काशी कारंजा के एक समृद्ध परिवार में 30 जुलाई 1911 को हुआ । उनके पिता जयकुमार चवरे उस समय के अकोला के प्रसिद्ध वकील थे । उनकी माता सुंदरबाई भी श्रीमंत परिवार से थीं । चार भाई और दो बहनों से भरा यह धार्मिक संस्कार संपन्न सुशिक्षित परिवार कारंजा आश्रम के लिए वरदान था । गुरूणां गुरु पं. गोपालदास जी वरैया के सहयोग से पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री को यहां नियुक्त किया गया । साथ ही ब्र. देवचंद काका भी उसी में अध्यापन कार्य करने लगे । 1921 में माणिकचंद को भी उसी आश्रम में अध्ययनार्थ प्रवेश करा दिया गया ।

थोडे समय बाद ही तात्याजी को माता–पिता का वियोग सहना पडा। इस वियोग ने उन्हें संसार के स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन करा दिया और उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत लेकर समाजसेवा का व्रत ले लिया । 1933 में ब्र. देवचन्द काका ने आचार्य श्री शान्तिसागरजी से क्षुल्लक दीक्षा ली और क्षुल्लक समन्तभद्र बनते ही उन्होंने गुरुकुल का अधिष्ठाता पद देवकीनंदनजी को और उपाधिष्ठातापद माणिकचंद जी चवरे को सौंप दिया। 1934 में बाहुबली में भी गुरुकुल की स्थापना हो गई और वहां कोल्हापुर के दानवीर सेठ कल्लाप्पा विखे ने बाहुबली भगवान की मूर्ति वहां की व्यवस्था विराजित कर दी । 1940 में देवलगांवराजा और 1941 में गजपंथा में भी गुरुकुल स्थापित कर दिये गये । वहां क्रमशः

लालाजी विठोबाजी फर्सुले और शान्तिकुमार तथा जयचंद लोहाडे पर छोड दी गई। इसी तरह 1943 में रामटेक में और 1944 में खुरई में भी गुरुकुल खुल गये । 1952 में क्षुल्लक समन्तभद्र मुनि समन्तभद्र बन गये । इसके बाद पं. देवकीनन्दनजी स्वास्थ्यलाभ के लिए इन्दौर चले गये जहां उन्होंने अन्तिम सांसे लीं ।

तात्याजी इन सभी गुरुकुलों का कार्यभार संभालते हुए अध्यात्मिक साधना करते रहे । अशोक चवरे ने आश्रम में आकर उनकी हर तरह से मदद की और आश्रम की व्यवस्था अपने हाथ में ले ली । इससे तात्याजी को अन्य सामाजिक कार्यों में समय अधिक मिलने लगा । कुन्दकुन्द कहान तीर्थक्षेत्र कमेटी की स्थापना के पीछे भी तात्याजी का हाथ था । अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ की सुरक्षा करने में भी तात्याजी का बडा योगदान रहा है । विद्वत्परिषद् को विखण्डित करने की भूमिका भी यहीं बनी और तात्याजी को अध्यक्ष बनाकर यह कार्य आगे और भी सरल हो गया । तात्याजी ने एकता का अथक प्रयत्न किया पर वे सफल नहीं हो सके ।

तात्याजी वृद्धावस्था के कारण काफी अशक्त हो गये थे । मोतियाबिन्द बढ रहा था, प्रोस्टेट ग्लेंड का आपरेशन भी आवश्यक था । दोनों आपरेशन हो गये, पर स्वास्थ्य सुधर नहीं सका । वे स्वाध्याय में लीन रहकर मानसिक एकाग्रता करते और कष्ट भूलने का प्रयत्न करते । अन्ततः 30 अगस्त 1997 में वे इस संसार से चल बसे और गुरुकुल प्रणाली का एक सशक्त अध्याय समाप्त हो गया ।

तात्याजी का समूचा जीवन एक समर्पित और निःस्वार्थ सेवक के रूप में बीता । उनमें स्वाध्यायशीलता, सरलता, तत्त्वज्ञता, वैदुष्य, मौन साधकता, निरभिमानता और सहनशीलता जैसे अपार गुण थे। इन्हीं गुणों ने उनको कर्मयोगी बना दिया ।

माणिकचंद भिसीकर

भिसीकर गुरुजी का जन्म कारंजा (वाशिम) में 1 अगस्त 1916 में हुआ।

गुरुकुल प्रणाली के प्रवर्तक आचार्य श्री समन्तभद्र ने 1918 में यहां महावीर ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की । इस संस्था की पूर्वपीठिका को सुनिश्चित करने के लिए जिन छह व्यक्तियों की कमेटी बनी थी उसमें एक थे भिसीकरजी के पिताश्री जयवंतसा भिसीकर । प्रारम्भ से मैट्रिक तक माणिकचन्दजी भिसीकर की शिक्षा इसी गुरुकुल में हुई और बाद में बी.ए. तथा न्यायतीर्थ की उपाधियां नागपुर से प्राप्त की । आजीवन ब्रह्मचर्यव्रत लेकर 1941 में आचार्यश्री के निर्देश पर सोलापुर में गुरुकुल की देखरेख करने में जुट गये । बाद में 1952 में वे बाहुबली आश्रम के संचालक बना दिये गये । यहीं से उन्होंने डॉ. उपाध्ये के मार्गदर्शन में प्राकृत में एम.ए. भी कर लिया ।

1963 में संस्था की गतिविधियां विकसित करने का निर्णय लिया गया। आचार्य श्री शान्तिसागरजी इसी वर्ष यहां पधारे और उनके निर्देशन पर कर्नाटक में भी गुरुकुलों की स्थापना की गई । इस तरह बाहुबली की तेरह शाखायें विभिन्न स्थानों पर शुरू हो गई और उनका सारा उत्तरदायित्व भिसीकरजी के सबल कन्धों पर आ गया जिसका उन्होंने बडी कुशलता पूर्वक निर्वाह किया ।

1983 में बाहुबली का डोंगरासंबन्धी राजकीय विवाद चला जिसे आचार्य श्री विद्यानन्दजी तथा सरयू दफ्तरी के आत्मिक सहयोग से निपटाया जा सका । इसमें भी भिसीकर जी की दूरदर्शिता ने जबर्दस्त काम किया ।

आचार्य श्री समन्तभद्रजी की इच्छानुसार 1950 में सोलापुर से 'सन्मति' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और उसके सम्पादन का भार भी भिसीकर जी को स्वीकारना पडा । बाद में यह पत्रिका बाहुबली में स्थानान्तरित कर दी गई । इस पत्रिका में उनके जैन दर्शन सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण आलेख प्रकाशित हुए । डॉ. कोलते, पद्मनाभ जैनी, आचार्य कालेलकर, ए.एन. उपाध्ये, डॉ. संघवे, प्राचार्य सुमेरुचंद्र जैन, डॉ. जोहरापुरकर आदि विद्वानों के निबन्ध इसमें प्रकाशित होते रहे हैं ।

जैन साहित्य संशोधन में प्रगति लाने की दृष्टि से बाहुबली में अनेकान्त

शोध विद्यापीठ की भी स्थापना की गई । भिसीकरजी के सान्निध्य में इस संस्थान से अनेक शोधप्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं ।

एक लम्बे समय तक स्तम्भ के रूप में काम करने वाले कर्मठ कार्यकर्ता भिसीकरजी का देहावसान 20 अप्रैल 2003 को हुआ । उनके जाने से गुरुकुल प्रणाली का एक और स्तम्भ ढह गया ।

पण्डित नरेन्द्र कुमार जयवंतसा भिसीकर

श्री पं. नरेन्द्र कुमार भिसीकर मराठी जैन साहित्य के उद्‌भट विद्वान थे । उनका जन्म ई. सन् 1906 में कारंजा (वाशिम) में हुआ था । माता–पिता के धार्मिक सुसंस्कारों ने उन्हें जैन संस्कृतिनिष्ठ विद्वान बना दिया । उन्होंने न्यायतीर्थ जैसी कठिन परीक्षा उत्तीर्णकर महामहोपाध्याय होने का सम्मान भी अर्जित किया । आचार्य समन्तभद्र महाराज के प्रथम पांच कर्मठ शिष्यों में वे अन्यतम माने जाते थे ।

ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा में अनेक वर्षों तक पण्डितजी ने धार्मिक शिक्षण दिया । सन् 1970 में जीवराज ग्रन्थमाला में सम्पादन का भार ग्रहण कर उन्होंने 27 वर्ष तक संस्थान को अपनी सेवाएं समर्पित की । उनकी समर्पण वृत्ति और सक्रियता के कारण ही धवला, षड्‌खण्डागम जैसे आगमों का प्रकाशन सम्भव हो सका । न्यायशास्त्र के विद्वान होने के कारण वे कुछ समय तक पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर में न्याय विषय के अध्यापक रहे और मुनियों तथा त्यागियों को भी अध्यात्म विषयक शिक्षण दिया । लगभग बीस पुस्तकों की रचनाकर उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र को भी संवर्धित किया – 1) क्षत्रचूडामणि – अनुवाद, 2) जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, 3) नियमसार – अनुवाद, 4) श्रेयोमार्ग, 5) तत्त्वार्थसार, 6) इष्टोपदेश – अनुवाद, 7) भ. पार्श्वनाथ, 8) दशलक्षण धर्म, 9) समाधिशतक – अनुवाद, 10) भ. महावीर, 11) भक्तामर स्तोत्र – अनुवाद, 12) हिताचे बोल, 13) कुन्दकुन्दांची तीन रत्ने – समयसार, 14) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय – अनुवाद, 17) स्वरूप–संबोधन, 18) कुरलकाव्य – अनुवाद, 19) अष्टपाहुड – अनुवाद । 20) जैन भूगोल, 21) समाधिशतक – अनुवाद ।

पण्डितजी की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें अनेक संस्थानों ने उन्हें पुरस्कृतकर सम्मानित किया ।

श्री भालचन्द्र क्षीरसागर

एक सुलझे हुए निष्णात विद्वान होने के कारण आपने लगभग 50 पुस्तकें लिखकर साहित्यिक क्षेत्र में अपना अमूल्य योगदान दिया ।

डॉ. जिनेन्द्र भोमज

आप एक सफल प्राध्यापक रहे हैं । 'भरतवर्ष नामकरण' नामक ग्रन्थ पर आपको पी.एच.डी. उपाधि से अलंकृत किया गया । आपके भारतीय संस्कृती ला जैनधर्माचे योगदान आदि अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं ।

श्री धन्यकुमार जैनी

10 जनवरी 1933 को जन्में श्री धन्यकुमार जैनी बी.ए., बी.एड. कर उमाबाई श्राविका शाला में सहायक शिक्षक का काम करते रहे । श्री जीवराज जैन ग्रन्थमाला का सम्पादन प्रूफ रीडिंग का काम भी पिछले पन्द्रह वर्षों से वही सम्हाले हुए हैं । जैन बोधक पत्रिका में आचार्य विद्यानन्द महाराज के प्रवचनों का अनुवाद भी वे प्रकाशित करते रहे । उनका अनुदित साहित्य इस प्रकार है – 1) सागर धर्मामृत, 2) सम्यक्त्व दीपिका, 3) पुण्याश्रव कथा कोष, 4) गुरुवाणी, 5) स्वानन्द विद्यामृत, 6) Bharat of Bhaarata – अंग्रेजी अनुवाद, 7) जैनधर्म में शासनदेवताओं का स्थान, पं. वर्धमान शास्त्री की कन्नड पुस्तक का अनुवाद, 8) मेरी भावना मराठी व संस्कृत पद्यानुवाद, 9) प्रा. जयकुमार आवडकर द्वारा लिखित 'नो स्ट्रॉडम्स' नामक ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद आदि।

प्रसिद्ध से पराङ्मुख रहने वाले और पूरी तरह से निरपेक्षवृत्ति वाले विद्वान जैनी जी एक लम्बे समय से जैन बोधक, सन्मती, श्राविका आदि पत्रिकाओं को अपने लेखन द्वारा सहयोग देते रहे हैं । उनका अनुवाद इतना सुन्दर रहता है कि जैसे वह स्वलिखित ही हो ।

ब्र. मोहोलकर गुरुजी

ब्र. माणिकचंद शिवलाल शहा उर्फ मोहोलकर गुरुजी, ब्र. माणिकचंद जयकुमार चवरे (तात्याजी) ब्र. माणिकचंद जयवंतसा भीसीकर ये तीन माणिक्य थे जिन्होंने मराठी भाषी जैन समाज की अनूठी प्रगति की है । इनका साथ दिया वालचंद शहा, भूपाल दलाल, अजित कुमार कर्के, आदिनाथ सोनटक्के, देवचंद जोहरापुरकर, मृत्युंजय मालगावे, बाबूराव पाटिल, यशपाल जैन, रवीन्द्र जैन, विष्णुकुमार देशमाने, देवचंदशहा, अभयकुमार डोलस, रामचंद्र रुद्राक्ष आदि बालब्रह्मचारी वर्ग ने । इन सभी कार्यकर्ताओं ने आचार्य समन्तभद्र के निर्देशन में गुरुप्रणाली को जाग्रत किया और सामाजिक विकास की प्रक्रिया को तेज किया ।

इनमें ब्र. माहोलकर गुरुजी का स्वर्गवास 20.9.02 को हो गया । उन्होंने 47–48 में वी.टी. परीक्षा उत्तीर्णकर मुनिश्री के निर्देश से बाहुबली गुरुकुल के मुख्याध्यापक का पद विभूषित किया । उन्होंने जीवन के अन्तिम समय तक इस गुरुकुल में पूरी कुशलता, समरसता और अनासक्ति के साथ कार्य किया।

गुरुकुल की स्थापना सन् 1916 में आचार्यश्री समन्तभद्रजी के नेतृत्व में हुई । उनकी दृष्टि में जब तक निःस्वार्थी, निरपेक्ष और कर्मठ कार्यकर्ताओं का निर्माण नहीं होगा तब तक समाज का बहुमुखी विकास नहीं हो सकता । इस दृष्टि से उन्होंने सदाचार सद्गुण सम्पन्न, धर्मशील, स्वावलम्बी और पुरुषार्थी नवयुवकों को तैयार किया जो ब्रह्मचर्यव्रत लेकर उनके उद्देश्य को पूरा करने में सक्षम हो सकें । यह ऐसा ही एक समर्पित ग्रूप था जो आजीवन इस व्रत को पूरा कर आचार्यश्री के स्वप्न को साकार करने में जुटा रहा । इस कार्य में शील, ज्ञान, प्रेम, व्यवस्था और सेवा ये पांच गुणसूत्र रहे और क्षमाशीलता, मृदुता, गुरुनिष्ठा, व्यवस्थितता, सहकार, श्रमनिष्ठा, रुग्णसेवा, देशसेवा, समाजसेवा, परोपकार आदि गुण उसकी माला के रूप में गुथे रहे ।

प्राकृत और संस्कृत के विद्वान माहोलकर गुरुजी अन्त तक कर्मनिष्ठ बने रहे । वे 1974 में सेवानिवृत्त हुए और अपना सारा वेतन, संपत्ति, सब कुछ

बाहुबली गुरुकुल, मन्दिर निर्माण, अतिथि भोजनगृह, ग्रन्थप्रकाशन आदि पुण्यकार्यों के लिए सौंप दिया । उनका सारा जीवन आदर्शमय और गुरुकुल के विकास में बीता ।

ऐसे समर्पित व्यक्तित्व का अवसान 20.9.2002 को कुम्भोज बाहुबली आश्रम में हुआ । गुरुकुलों की व्यवस्था की दृष्टि से यह एक अपूरणीय क्षति है।

पण्डित नाथूराम प्रेमी

पं. नाथूराम प्रेमी यद्यपि देवरी (सागर) में जन्में पर उनका अधिकांश समय बम्बई में बीता । सं. 1938 में जन्में प्रेमीजी की प्रारंभिक शिक्षा देहात में ही हुई । बाद में उन्होंने मास्टरी की और फिर नागपुर के कृषि कालेज में शिक्षा ग्रहण की । उन्होंने सन् 1901 में मुंबई में मुंबई प्रान्तिक सभा में मुंशीगिरि की। इस सभा के अन्तर्गत जैनमित्र और उपदेशकीय विभाग थे।

यहां रहकर प्रेमीजी ने संस्कृत, गुजराती, बंगला और मराठी भाषायें सीखीं, रामचंद्र ग्रन्थमाला में काम किया और जैन हितेषी के सफल सम्पादक रहे । बाद में जब सन् 1912 में पन्नालाल बाकलीवाल ने ग्रन्थों के विक्रय की दृष्टि से जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय चालू किया तो प्रेमीजी को अपनी प्रतिभा को विकसित करने का सुअवसर मिला । यहां से उनका पहला ग्रन्थ 'स्वाधीन' प्रकाशित हुआ जो महावीर प्रसाद के स्पइमतजल ग्रन्थ का अनुवाद था । रसिकमित्र, काव्य सुधाकर आदि पत्रिकाओं में उनकी अनेक कवितायें निकलीं जिन्होंने उनको कवि के रूप में भी स्थापित कर दिया । इसी तरह जैन हितेषी ने उनकी शोधवृत्ति को प्रकाशित किया ।

प्रेमीजी ने मूल ग्रन्थों और पाण्डुलिपियों का अध्ययन कर जो प्रस्थापनायें की हैं वे आज भी अनूठी हैं । उनकी इस प्रतिभा को हम निम्न ग्रन्थों में देख सकते हैं – विद्वत रत्नमाला भाग 1,2, दिगम्बर जैन ग्रन्थ कर्ता और उनके ग्रन्थ, बनारसीदास का जीवन चरित्र, भट्टारक मीमांसा, कर्नाटक जैन कवि, भक्तामर स्तोत्र पद्यानुवाद, विषापहार स्तोत्र पद्यानुवाद, उपमिति भाव प्रपंच कथा, भाग 1–2, ज्ञान सूर्योदय नाटक, प्राणप्रिय काव्य–अनुवाद, सज्जनचित्त

बल्लभ–अनुवाद, पुण्याश्रवकथाकोश, अनुवाद, धूर्ताख्यान, चर्चाशतक, प्रतिभा, फूलों का गुच्छ, दिया तले अंधेरा, प्रद्युम्नकुमार, रवीन्द्रकथाकुंज, जैन साहित्य का इतिहास, अर्धकथानक, तारणपन्थ, जान स्टुअर्ट चरित्र (मराठी) ।

सेठ माणिकचंद झवेरी से अधिक आत्मीयता होने के कारण प्रेमीजी ने उनसे माणिकचंद ग्रन्थमाला स्थापित करायी और संपादित कर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उससे प्रकाशित किये । उनके जाने के बाद यह संस्था भारतीय ज्ञानपीठ में अन्तर्भुक्त हो गई ।

समाज ने कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए सन् 1946 में प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ। इस महान शोधी विद्वान का स्वर्गवास 30 जनवरी 1960 को हो गया। इसके बाद हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड बन गया । आज इसे उनके सुपुत्र यशोधर और विद्याधर सम्हाले हुए हैं । यशोधर के पुत्र मनीष मोदी ने इस संस्थान को और भी व्यवस्थित कर दिया है ।

मोतीचंद गांधी 'अज्ञात'

उस्मानाबाद (औरंगाबाद) में जन्में मोतीचंद गांधी कपास के समृद्ध व्यापारी थे । लगभग 15 वर्ष की अवस्था में 1921 में उनका विवाह रतनबाई के साथ हो गया । थोडे समय बाद ही वे क्षय रोग से ग्रस्त हो गये । लगभग दस वर्ष के बाद दो पुत्र और एक पुत्री हुई । घर का वातावरण बडा धार्मिक था । वे जातिवाद के विरोधी थे और जैनधर्म में अटूट श्रद्धा रखते थे । मुनि समन्तभद्रजी के प्रति उनके मन में गहरी श्रद्धा थी । उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अपनी माताश्री चतुरबाई के नाम से चतुरबाई जैन ग्रन्थमाला ट्रस्ट की स्थापना की और उसी से सभी ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया ।

गांधी कुशल व्यवसायी तो थे ही, साथ ही एक अच्छे कवि, लेखक और चिन्तक भी थे । रतनबाई ने सारे गार्हस्थिक कार्यों का उत्तरदायित्व सम्हालकर उन्हें साहित्यिक कार्यों में व्यस्त रहने की छूट दे दी थी । परिणामतः वे दिन–रात जुटकर निम्नलिखित ग्रन्थों को लिख सके –

1. साधु शिक्षा – अध्यात्मकल्पद्रुम के शिक्षोपदेशाधिकार का काव्यात्मक रूपान्तरण (1926)
2. सुभाषित रत्नसंदोह – काव्यात्मक रूपान्तरण
3. आर्या कुन्दकुन्द – आचार्य कुन्दकुन्द के समग्र ग्रन्थों का काव्यात्मक रूपान्तरण (350 पृष्ठ)
4. पंचसंग्रह (1951) – परमात्मप्रकाश, योगसार, इष्टोपदेश, समाधिशतक और सूक्तिमुक्तावलि का काव्यात्मक रूपान्तरण (100 पृष्ठ)
5. धर्मपरीक्षा – काव्यात्मक रूपान्तरण (210 पृष्ठ)
6. ग्रन्थत्रयी – कार्तिकेयानुप्रेक्षा, तत्त्वानुप्रेक्षा और वसुनन्दी श्रावकाचार का काव्यात्मक रूपान्तरण
7. क्षेत्रचूडामणी (1958) – टीका एवं मराठी अनुवाद (310 पृष्ठ)
8. आत्मसिद्धि – मराठी अनुवाद (110 पृष्ठ)
9. मुनिसुव्रतकाव्य(1958) – मराठी काव्यात्मक अनुवाद (पृ. 75)
10. उपमितिभवप्रपंचकथा – गद्यात्मक मराठी अनुवाद (पृ. 575)
11. छहढाला – मराठी काव्यात्मक अनुवाद (पृ. 60)
12. माझी तीर्थवन्दना – तीर्थक्षेत्र परिचय (पृ. 625)
13. महावीरचरित्र (1931) – मराठी गद्य (पृ. 175)
14. नित्यक्रियादि पूजनसंग्रह (पृ. 235)
15. पद्मनंदि पंचविंशति – मराठी काव्यानुवाद (पृ. 266)
16. जैन लग्नविधी – (पृ. 100)

17. जैन ज्ञानकोश – चार भाग (पृ. 1600)
18. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय – मराठी काव्यानुवाद
19. हरिषेणाचार्यकृत वृहत्कथाकोश – दो भाग (1936)
20. कुरलकाव्य – गद्यानुवाद (1937)
21. तामिल जैन वाङ्मय
22. सज्जनचित्त बल्लभ – मराठी अनुवाद
23. परमपदप्राप्तीची भावना – मराठी काव्यानुवाद
24. अनित्यपंचाशत
25. वैराग्यमणिमाला – मराठी काव्यानुवाद
26. मनोभावना – मेरी भावना का मराठी अनुवाद
27. सामायिक पाठ – मराठी पद्यानुवाद
28. आर्या महापुराण – काव्यात्मक अनुवाद
29. द्विजवदनचपेट – ———"———
30. रत्नकरण्डश्रावकाचार – ———"———
31. सागारधर्मामृत – ———"———
32. प्रतिष्ठा तिलक – ———"———
33. आशाधरकृत त्रिषष्टि शलाका स्मृतिशास्त्र – (1937)

रूग्णावस्था में भी इतना अधिक साहित्यिक कार्य कर लेना ही कर्मठता और अनूठापन है । 'आराम हराम हैं' अज्ञात का जीवन दर्शन था। श्रीमती रतनबाई आज 93 वर्ष की अवस्था में भी स्वस्थ हैं । और अध्यात्मसाधनारत हैं ।

डॉ. विलास संघवे

सोलापुर में जन्में लगभग पचासी वर्षीय (जन्म 2 जून 1920) डॉ. विलास संघवे जैन समाजशास्त्र के कदाचित् प्रथम अध्येता रहे हैं । बम्बई विश्वविद्यालय से उन्होंने पांच वर्ष के सतत् परिश्रम के बाद 1950 में "Jain Community : A Social Survey" विषय पर पी–एच.डी की उपाधि प्राप्त की। तभी से जैन साहित्य, जैन कला आदि के समान जैन समाज भी एक विशिष्ट अध्ययन का क्षेत्र माना जाने लगा ।

इस शोधप्रबन्ध का प्रकाशन मुंबई विद्यापीठ की ओर से मुंबई के पापुलर प्रकाशन ने 1956 में किया । 1980 में उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। इस शोधग्रन्थ का प्रभाव इतना अधिक हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर "जैन समाज" अध्ययन का एक स्वतन्त्र क्षेत्र मान्य हो गया । केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में जून 1985 में इस विषय पर एक पृथक् चर्चा सत्र भी रखा गया था जिसमें डॉ. संघवे विशेष रूप से आमन्त्रित विद्वान के रूप में उपस्थित रहे । मैं भी उसमें आमन्त्रित किया गया था ।

डॉ. संघवे प्रारम्भ में कुछ वर्ष कर्नाटक कालेज धारवाड में प्रोफेसर रहे और फिर कोल्हापुर विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर रहे हैं । और वहीं से 1980 में सेवानिवृत्त हुए । जैन दर्शन का भी उनका अध्ययन गंभीर है । अहिंसा आदि अनेक विषयों पर अंग्रेजी में उनके कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । डॉ. उपाध्ये के देहावसान के बाद दक्षिणवर्ती विद्वान के रूप में उनका नाम काफी उभरा । पुणे में 1988 में हुए मराठी जैन साहित्य संमेलन के आप अध्यक्ष भी रहे हैं । अहिंसा इंटरनेशनल आदि संस्थानों द्वारा भी वे संमानित हुए हैं ।

अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी पर समान अधिकार रखने वाले प्रोफेसर संघवे को 1985 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय लंडन ने और 1989 में बिहार सरकार ने सम्मान किया । 1990 में उन्हें बकिंघम पेलेस लण्डन में भी The Jain Declaration of Nature विषय पर भाषण देने निमन्त्रित किया गया । देश–विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों से भी संघवे संबद्ध रहे हैं ।

डॉ. संघवे कोल्हापुर विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद साहू शोध संस्थान, कोल्हापुर एवं अनेकान्त शोधपीठ बाहुबली के मानद निदेशक के रूप में अपनी सेवायें देते रहे हैं । मराठी में भी उनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं । 2002 में शिवाजी विद्यापीठ ने उनके द्वारा सम्पादित "जैन साहित्य व संस्कृति" नामक एक अच्छा सन्दर्भ ग्रन्थ प्रकाशित किया है । इसी तरह अनेकान्त शोधपीठ ने भी जैन संस्कृतिः परम्परा व प्रभाव नामक उनका ग्रन्थ प्रकाशित कर यशार्जन किया है । उनके कतिपय अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं –

1. Jaina-community: A Social Survey
2. Life an Legacy of Mahavira : A Social Study
3. History of Dakshina Bharat Jaina Sabha
4. Sacred Shravana Belagala : A Social Religious Study
5. Hirachand Nemchand : The Pioneer of Jain Social Preform Movement
6. Aspects of Jain Religion
7. The Jain Path of Ahimsa

स्वस्तिश्री लक्ष्मीसेन भट्टारक

स्वस्तिश्री लक्ष्मीसेन भट्टारक का मूल नाम चन्द्रकीर्ति था उनका जन्म तमिलनाडु के गुडलूर गांव में 2 अगस्त 1942 को हुआ । 1953 से 1965 तक उन्हें कोल्हापुर में धार्मिक संस्कार और शिक्षण दिया गया और फिर उनकी कोल्हापुर धर्मपीठ कें पीठाधीश के रूप में दीक्षा हुई । तब से लेकर आज तक वे धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक व साहित्यिक क्षेत्र में अपना योगदान देते रहे हैं ।

धर्मप्रचार और समाज प्रबोधन की दृष्टि से उन्होंने 1970 में रत्नत्रय नाम की पत्रिका प्रारंभ की थी । कुछ वर्षों तक मैं भी उसका सम्पादक रहा हूं । 4 जून 1984 को श्रुतपंचमी के शुभ दिन "महाराष्ट्र जैन साहित्य परिषद" नामक

संस्था का सूत्रपात किया । तब से प्रतिवर्ष इस परिषद के अधिवेशन पुणे, बोरीबली, श्रवणबेलगोल, कोल्हापुर, सांगली, निपाणी, फलटण आदि में होते रहे हैं । विभिन्न स्थानों पर इस मठ में लगभग एक हजार प्राचीन जैन पाण्डुलिपियों का संग्रह है । इसी तरह लगभग साठ ग्रन्थों का प्रकाशन भी हो चुका है । स्वामीजी ने 'समाज भूषण पुरस्कार' देकर सामाजिक क्षेत्र में काम करने वालों का सम्मान भी किया है और बालसंस्कार शिविर का भी संयोजन प्रतिवर्ष की गतिविधियों में संमिलित हुआ है ।

इस प्रकार कोल्हापुर मठ एक धर्मपीठ का स्वरूप ले चुका है । यह स्वामीजी की कर्मठता का प्रतीक है। अनेक बार वे धर्मप्रचार के लिए विदेशों की भी यात्रा कर चुके हैं । बीसों पंचकल्याणक और विधि विधान कर उन्होंने आत्मकल्याण और जनकल्याण का समन्वय किया है । 2600 वीं महावीर जयन्ती के निमित्त 26 कार्यकर्ताओं का सम्मानकर उन्होंने अपने गुणगौरव का परिचय दिया है ।

इसी संस्था से इन संमेलनों के अध्यक्षीय भाषणों का संकलन 'मराठी जैन साहित्य : परंपरा व प्रवाह' शीर्षक से डॉ. रावसाहेब पाटिल द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है ।

डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर

सन् 1935 में नागपुर में जन्में डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर ने नागपुर विश्वविद्यालय से 1956 में संस्कृत में एम.ए. और 1959 में प्रोफेसर मिराशी के निर्देशन में 'भट्टारक सम्प्रदाय'' पर पी–एच.डी. उपाधि प्राप्त की । उनका कार्यक्षेत्र मध्यप्रदेश रहा है । वहीं से वे उच्च शिक्षा विभाग में संस्कृत प्राध्यापक पद पर नागपुर, जबलपुर, जावरा, मण्डला, भोपाल आदि स्थानों पर शिक्षण कार्य करने के बाद शासकीय महाविद्यालय केवलारी (सिवनी) के प्राचार्य पद से निवृत्त हुए । पी–एच.डी. के बाद जैन इतिहास और संस्कृति के अध्ययन की ओर उनका झुकाव बढता गया । फलतः एतत्सम्बन्धी उनके अनेक लेख

और शोध ग्रन्थ सामने आये । मूलतः मराठी भाषी होने के कारण मराठी में भी आपका कुछ साहित्य प्रकाशित हुआ है। दक्षिण भारत जैन सभा ने आपको 1999 में साहित्य पुरस्कार से संमानित किया है और दक्षिण वघेरवाल संघने भी आपको सम्मानित किया है । वर्तमान में आप सेवानिवृत्त होने के बाद नागपुर में ही अपने परिवार के साथ रहकर साहित्य साधना कर रहे हैं । अभी तक आपके द्वारा संपादित/लिखित प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस प्रकार हैं –

1. यशस्तिलक (हिन्दी कथासार)
2. तिलकमंजरी (हिन्दी कथासार)
3. भट्टारक सम्प्रदाय (इतिहास साधन संग्रह)
4. धर्मामृत (15वीं शती की मराठी रचना)
5. जिनसागर कविता (18 वीं शती की मराठी रचनायें)
6. तीर्थवन्दन संग्रह (इतिहास साधन संग्रह)
7. विश्वतत्त्व प्रकाश (13 वीं शती की संस्कृत रचना)
8. प्रमाप्रमेय (13 वीं शती की संस्कृत रचना)
9. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 4
10. जैन शिलालेख संग्रह, भाग 5
11. कुवलय माला (मराठी कथासार)
12. स्वयंभू स्तोत्र (मराठी अनुवाद)
13. वीरशासन के प्रभावक आचार्य (पूर्वार्ध)
14. विवेक विलास (15 वीं शती की गुजराती रचना)
15. भ. महावीर (हिन्दी पुस्तिका)
16. भ. महावीर (मराठी पुस्तिका)
17. प्राचीन मराठी कथा पंचक (17–18 वीं शती की कथायें)
18. मराठी जैन साहित्य
    (जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग 7 में संमिलित)
19. वघेरवाल जाति का इतिहास ।

मुनि जयकीर्ति महाराज

आध्यात्मिक वातावरण में पले–पुसे पवनकुमार का जन्म अवकल कोट में पार्श्वनाथ उर्फ बाबूराम और पद्मावती के घर 6 मई 1935 में हुआ। क्षुल्लक विमलसागरजी लेंगडे ने इस वातावरण में और भी गहनता ला दी । आचार्य श्री पायसागरजी के 1961 के चातुर्मास ने इस गहनता पर और भी अमिट छाप छोड़ दी । फलतः पवनकुमार ने आचार्य अनन्तकीर्ति से मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली और वे मुनिश्री जयकीर्ति के नाम से विख्यात हो गये ।

आप तपस्वी के अतिरिक्त एक अच्छे लेखक और चिन्तक भी हैं । हिन्दी, कन्नड और मराठी भाषाओं पर आपका समान अधिकार है । आयुर्वेद पर भी आपकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं । अमोलक माणिक्यमाला, योगप्रदीप, आहारदान आदि लगभग बीस रचनायें आपकी प्रतिभा से प्रसूत हुई हैं ।

पण्डित नेमचंद धन्नुसा डोणगांवकर

सत्तरवर्षीय पं. नेमचंद धन्नूसा डोणगांवकर जैन इतिहास, संस्कृति, साहित्य और दर्शन के तलस्पर्शी विद्वान थे । उनकी संयमित वृत्ति, शान्त प्रकृति और निरहंकारी चेतना व्यक्ति को अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेती थी। आपने गुरुकुल कारंजा और बाहुबली में अध्ययन करते हुए न्यायतीर्थ परीक्षा उत्तीर्ण की । श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर क्षेत्र के लिए प्रदत्त निःस्वार्थ सेवा उनके सरल व्यक्तित्व का एक विशिष्ट पक्ष रहा है। विदर्भ के जैन इतिहास पर अनेकान्त में प्रकाशित कतिपय लेखों ने उनकी विद्वत्ता का अच्छा आभास दिया। पं. डोणगांवकर के लिखित ग्रन्थों में अन्यतम हैं – श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ निवडक साहित्य संग्रह, 2) श्री अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का इतिहास, 3) श्रुतावतार तथा संघभेदः शोध तथा भेद, 4) पं. आशाधरः व्यक्तित्व और कृतित्व ।

पण्डित धन्यकुमार भोरे

महाराष्ट्र में कारंजा गुरुकुल ने वही कार्य किया है जो मध्यप्रदेश में वर्णी

विद्यालय मोराजी सागर ने और उत्तरप्रदेश में स्याद्वाद विद्यालय वाराणसी ने। प्रोफेसर पद्मनाभ जैनी जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों की जननी कारंजा आश्रम संस्थान से उद्भूत पं. भौरे का जन्म 1924 में नागपुर में हुआ। कारंजा, अमरावती, और नागपुर में रहकर उन्होंने बी.ए., एल–एल. बी, की परीक्षायें उत्तीर्ण कीं । सीधी–सादी वेशभूषा में रहने वाले भौंरे के व्यक्तित्व पर महात्मागांधी का प्रभाव अधिक रहा । स्वतन्त्रता आन्दोलन में भी भाग लेकर उन्होंने राष्ट्र की सेवा की । विभाजित विद्वत्परिषद के सचिव पद पर रहकर उन्होंने टोडरमल स्मारक ट्रस्ट और समाज की भी अच्छी सेवा की । समयसार (1968), प्रवचनसार, नियमसार, मोक्षमार्ग प्रकाशक आदि ग्रन्थों को मराठी भाषा में अनुदित कर उन्होंने जिनवाणी की भी अनन्य सेवा की । पं. भौंरे एक कुशल लेखक, और प्रवचनकार हैं । वघेरवाल संघ के भी वे एक निष्ठावान् कार्यकर्ता हैं ।

डॉ. सुभाषचंद्र अक्कोळे

मराठी जैन साहित्य के प्रख्यात संशोधक, प्रभावी लेखक और वक्ता डॉ. सुभाषचन्द्र अक्कोळे के 1 अप्रैल 2002 को पचहत्तर वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में 6 अप्रेल को जयसिंगपुर में 'अमृत महोत्सवी सत्कार' का भव्य आयोजन किया गया । मराठी और संस्कृत के अधिकारी विद्वान डॉ. अक्कोले सातारा, बारामती, जयसिंगपुर आदि स्थानों पर मराठी प्राध्यापक के रूप में कार्य करते हुए अनेकान्त एज्युकेशन सोसायटी के जयसिंगपुर कालेज से प्राचार्य के रूप में सन् 1987 में सेवानिवृत्त हुए । अपने "प्राचीन मराठी जैन साहित्य" जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर पी–एच.डी 1964 में पुणे विश्वविद्यालय से की जिसका प्रकाशन 1967 में सुविचार प्रकाशित नागपुर से हुआ । इसके बाद ब्रह्मगुणदास विरचित श्रेणिकचरित्र मेघराज विरचित जसोहररास, सूरिजन विरचित परमहंस कथा और गुणकीर्ति विरचित द्वादशानुप्रेक्षा ग्रन्थों का सम्पादन किया और तुकाराम गाथा, स्वात्मविचार, नामदेवकृत संतचरित्र, आदि छोटे–मोटे अनेक ग्रन्थ लिखे । सन्मति आदि अनेक मराठी पत्रिकाओं के सम्पादक मण्डल में भी आपका नाम मुखरित हुआ है। इसी तरह जैन संस्कृति संरक्षक संघ आदि

अनेक संस्थानों और तीर्थक्षेत्रों के विकास में भी आपने अपना गुरुत्तर योगदान दिया । मराठी जैन साहित्य पर काम कर आपने मराठी साहित्यिक क्षेत्र में एक नयी चेतना जाग्रत कर दी और विचारवान् समीक्षक के रूप में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की । 'समाज संवाद' नामक ग्रन्थ में सन्मति और जिणविजय पत्रिकाओं में प्रकाशित आपके अग्रलेख संकलित हुए हैं । ''संत श्रेष्ठ आचार्य श्री शान्तिसागर'' और धवलगान ने भी अक्कोले को एक सफल मराठी जैन साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित किया है । धवलगान में सं. 925 से 1813 तक की बीस आदि कालीन और मध्यकालीन मराठी जैन कवियों की 48 रचनाओं का संकलन है । ब्र. माणिकचंदजी भिसीकर के देहावसान के बाद डॉ. अक्कोले सन्मति के संपादक बनाये गये ।

प्राचार्य विद्याधर उमाठे

पल्लीवाल जैन समाज के मूर्धन्य प्राचार्य विद्याधर उमाठे का जन्म कोंढाली (नागपुर) ग्राम में 26 जून 1926 को हुआ । वे संस्कृत और मराठी के अच्छे कवि थे । कारंजा आश्रम के पुनीत वातावरण ने उन्हें जैन संस्कृति के अध्येता और जैन साहित्य के निर्माता के रूप में प्रतिष्ठित किया और आचार्य श्री समन्तभद्र के अनुशासित जीवन ने उन्हें एक कुशल समाज सेवक बनाया। नागपुर विद्यापीठ के प्राध्यापक और स्वावलम्बी शिक्षण महाविद्यालय के प्राचार्य उमाठे एक सिद्धहस्त साहित्यकार भी थे । उनके द्वारा लिखित और अनुदित ग्रन्थों में प्रमुख हैं – शैक्षणिक संशोधनाची मूलतत्त्वे, इष्टोपदेश, भावना बत्तीशी, श्रावक धर्मसार, मंगलार्चना, अनेकान्त पाठावली, गोमटेश्वर, बाहुबली, अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ स्तोत्र, संजीवन पत्रावली, सूक्ति सौरभ, महावीर गीत सुधा, निर्वाण क्षेत्र पूजा, साररूप कार्तिकेयानुप्रेक्षा, भ. महावीरांचे सर्वोदय तीर्थ, अभंग सुधा, जैन विचारधारा, जीवनदृष्टि, तीर्थंकर महावीर, भद्रभारती, प.पू. गुरुदेव श्री समन्दभद्र महाराजांचे लघुचित्र (हिन्दी/मराठी), समय रत्नमाला, श्रमणसूत्र रत्नमाला, पदार्थ रत्नमाला, परिपाठ रत्नमाला आदि ।

मराठी जैन साहित्य सम्मेलन जयसिंगपुर की आपने अध्यक्षता की । शोधपीठ

बाहुबली के मानद संचालक, सन्मति के सह सम्पादक, शिक्षण भारती के प्रधान सम्पादक, अनेक विद्यापीठों और संस्थानों के सदस्य भी आप रहे हैं । ललिता विद्याधर उमाठे आपकी सुशिक्षित पत्नी हैं जो आज भी महिलाश्रम अध्यापिका विद्यालय वर्धा की प्राचार्या हैं । प्राचार्य उमाठे समाज और साहित्य की सेवा करते हुए 22 सितम्बर 1995 को स्वर्गवास हो गये । एक सरल और निष्काम साधक हमारे बीच से चला गया ।

प्राचार्य सुमेरुचन्द्र जैन

7.11.1925 को जन्में प्राचार्य सुमेरुचन्द्र जैन मूलतः चांदूर (नागपुर) वासी हैं पर उनका कर्मक्षेत्र सोलापुर है जहां से वे एक प्रसिद्ध कालेज के प्राचार्य पद से निवृत्त हुए लगभग 1990 में । वे 'सन्मति' के सम्पादक रहे हैं । उनका लेखन सरल और गम्भीर दोनों प्रकार का है । उनकी पत्नी लीलावती भी साहित्यसृष्टा रही हैं । उनके ही नाम पर प्राचार्यजी ने स्वयंभू प्रकाशन प्रारम्भ किया जिससे अभी तक लगभग 100 ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । 'जटायू नामक निबन्ध संग्रह में उनके विचारोत्तेजक निबन्धों का संकलन हैं । वर्धमान महावीर (1958), सम्राट करकण्डु (1934), अमरकथा (1970) जैसे कथात्मक ग्रन्थों में आपने प्राचीन कथाओं का सरस रूपान्तरण किया है । समयसार प्रवचन 10 भाग, समाधि, जीवन्धरकथा, जैनाचार्य, आर्यनन्दी महाराज, लक्ष्मीसेन भट्टारक आदि विषयों पर आपने छोटे–छोटे अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । हिन्दी–मराठी और मराठी–हिन्दी अमरकोश तथा बाल विश्वकोश जैसी सार्वजनोपयोगी पुस्तकों का सम्पादन भी आपने किया है । अभी तक आपके लगभग 50 ग्रन्थ निकल चुके हैं। वर्तमान में 'अरिहन्त' पत्रिका आपके संपादन में सोलापुर से ही प्रकाशित हो रही है । ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा ने आपको जो दृष्टि और संस्कार दिये हैं उन्होंने आपको अच्छा साहित्यकार बना दिया है । भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ (1976) जैसे सुन्दर ग्रन्थों के प्रकाशन का संयोजन भी आप करते रहते हैं । 1987 के मराठी जैन साहित्य संमेलन के आप अध्यक्ष भी रहे हैं ।

श्रेणिक अन्नदाते

डोंबावली (मुंबई) से प्रकाशित 'तीर्थंकर' मासिक पत्रिका के सम्पादक और वरिष्ठ मराठी साहित्यकार श्रेणिक अन्नदाते का मराठी जैन साहित्य के चिन्तन में महनीय योगदान है । वे पिछले पैतीस वर्षों से तीर्थंकर पत्रिका का संपादन कर रहे हैं । उनके सम्पादन काल में अनेक मराठी जैन साहित्यकारों की सुप्त प्रतिभा जाग्रत हुई है । 1997 से अन्नदाते समकालीन मराठी जैन कथाओं के प्रकाशन में जुटे हुए हैं । सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से यह उपयोगी भी है । सुमेरु प्रकाशन की ओर से अभी तक उनके पुनीत (1997), परहिदं च कादव्वं (1998), गिरनार (1999), व्रती (2000), अभिषेक (2001) नाम के पांच कथासंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें चौबीस लेखकों–लेखिकाओं द्वारा लिखित व्यासी जैन कथाओं का संकलन हुआ है । मराठी जैन इतिहास परिषद की स्थापना कर आपने जैन इतिहास की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।

मनोहर गणपतराव मारवडकर

कोदामेढी (नागपुर) में 1931 में जन्में मनोहर गणपतराव मारवडकर कारंजा ब्रह्मचर्याश्रम के छात्र रहे हैं । प्रवर डाकघर अधीक्षक पद से सेवानिवृत्त होने के बाद आप स्वाध्याय, लेखन, अनुवाद, काव्य रचना आदि में व्यस्त हो गये । परिणामतः जिनार्चन, योगसार, स्वधर्म आराधना, भक्तामर विधान, सामायिकपाठ, कुंदकुंदशतक, परमात्मप्रकाश अनुवाद, तत्त्वार्थसूत्र व भक्तामर स्तोत्र अनुवाद, आत्मसिद्धि, क्षत्रचूडामणि, समाधि सोपान, द्रव्यसंग्रह, अप्तमीमांसा, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थों का मराठी गद्य–पद्यात्मक अनुवाद किया। आपके कुछ ग्रन्थ महावीर गीतगंगा, भक्तामरस्तोत्र विधान शुद्धोपयोग आदि हिन्दी में भी प्रकाशित हुए हैं ।

मुनि वीरसागर महाराज

भांणुर्डी (सोलापुर) में 5.5.1940 को माताश्री चंचलबाई की कुक्षि से जन्में

मुनिश्री वीर सागर महाराज ने अपने पिताश्री गुलाबचन्दजी के धार्मिक परिवेश में रहकर बाल्यावस्था व्यतीत की । फलटण से हाई स्कूल की परीक्षा पासकर पूना से 1964 में एम.बी.बी.एस. किया और परभणी में मेडिकल प्रेक्टिस करने लगे । 1966 में उनका विवाह सोलापुर के श्री छगनलाल गांधी की सुपुत्री शकुन्तला (बी.ए. आनर्स) से हो गया ।

प्रकृति से धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण गृहस्थावस्था में वे अधिक समय तक नहीं रह सके । परोपकारवृत्ति से न्यूनतम फीस लेकर लगभग दस वर्ष तक प्रेक्टिस की और 1975 में अक्षयतृतिया की पुण्यवेला में अकलूज में आचार्य श्री आदिसागरजी महाराज से दैगम्बरीय दीक्षा ग्रहण कर ली । आपकी पत्नी शकुन्तला भी आपके पदचिन्हों पर चलकर क्षुल्लिका चन्द्रमती हो गई । स्वानुभूति के धनी मुनिश्री वीरसागर अहर्निश स्वाध्याय और तप में लगे रहते थे । उनकी प्रवचन पद्धति भी बहुत प्रभावक थी । अध्यात्म न्याय दीपिका जैसे ग्रन्थों की रचनाकर उन्होंने अपनी जिज्ञासा और स्वाध्याय पिपासा को ही शान्त किया । अन्त में सल्लेखना पूर्वक उनकी समाधि हो गई ।

एक अन्य आचार्य वीर सागर महाराज मुंबई के वीर गांव के निवासी रामदास के पुत्र, आचार्य शान्तिसागर के शिष्य तथा शिवसागरजी के गुरु भी थे। उनकी दीक्षा वि. सं. 1981 में हुई और समाधिमरण 2014 में हुआ ।

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

कुशल साहित्यकार और जैन–बौद्ध संस्कृति के मर्मज्ञ डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' का जन्म बम्हौरी (छतरपुर) म. प्र. में 1 जनवरी 1939 में हुआ। पिताश्री गोरेलाल और माताश्री तुलसादेवी ने धार्मिक संस्कार दिये । प्रारम्भिक शिक्षण तो गांव में ही हुआ पर बाद में सागर और फिर वाराणसी से बी.ए.एम. ए. (संस्कृत, पालि–प्राकृत, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व) किया और साहित्याचार्य आदि अन्य उपाधियां भी लीं । कामन्वेल्थ फैलोशिप पर Jainism in Buddhist Literature विषय पर श्रीलंका में 1963 से 1965

तक रहकर 1966 में पी–एच.डी. की । उसके बाद नागपुर विश्वविद्यालय में 1965 से विभिन्न पदों पर काम करते हुए 1998 में प्रोफेसर एवं पालि–प्राकृत विभागाध्यक्ष के रूप में काम करते हुए सेवानिवृत्त हुए । इस बीच आप 1983–95 तक राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में जैन अनुशीलनकेन्द्र में प्रोफेसर एवं निदेशक पद पर कार्य किया। 1985–87 तक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने आपको अपनी सर्वोच्च National UGC Fellowship देकर समानित किया । 1999 से 2001 तक पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी में प्रोफेसर एवं निदेशक रहे । वर्तमान में राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोधसंस्थान श्रवणबेलगोला, मैसूर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एवं संयुक्त निदेशक, सन्मति प्राच्य शोध संस्थान नागपुर तथा सर्वोदय विद्यापीठ सागर के मानद प्रोफेसर एवं निदेशक हैं ।

विशेष बात यह है कि डॉ. जैन ने नागपुर विश्वविद्यालय से विभिन्न विषयों पर संस्कृत पालि–प्राकृत और हिन्दी में तीन डी–लिट्. की उपाधियां लीं जो शायद World Record है । उन्हें 2004 में पाली प्राकृत के क्षेत्र में विशिष्ट योगदान के लिये राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित किया गया है । आपको 'भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान' ग्रन्थ पर सन् 1980 में केन्द्रीय सरकार से पुरस्कृत किया गया । अमेरिकन बायोग्राफी ने आपको सन् 1999 तथा 2004 में Man of the Year कहकर सम्मानित किया है ।

डॉ. जैन के अभी तक लगभग चालीस ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं । उनमें वे ग्रन्थ भी हैं जो संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में हैं और जो पहली बार संपादित और अनुदित होकर प्रकाश में आये हैं । इन ग्रन्थों में निम्न ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं –

1) अंग्रेजी में लिखित पुस्तकों में मुख्य हैं –

1) Jainism in Buddhist Literature (Ph.D. Thesis)
2) Jainism and Mahavira, 3) Jain Logic, 4) Jainism and Buddhism,

2) संपादित और अनुदित ग्रन्थ –

(5) चतुःशतकम्, (6) प्राकृत धम्मपद, (7) पालिकोस संगहो, (8) अभिधम्मत्थ संगहो, (9) यशोधर चरितम्, (10) धम्मपरिक्खा, (11) चंदप्पह चरिउ, (12) संवोहि पंचासिया, (13) वयकहा, (14) हेवज्रतंत्र, (15) मूलाचार–तीन भाग (16) अलंकार दप्पण, (17) षोडशक प्रकरण, (18) पातिमोक्ख (19) दोहाकोश

3) **स्वतन्त्र ग्रन्थों में मुख्य हैं –**

(20) बौद्ध मनोविज्ञान, (21) भ. महावीर और उनका चिन्तन, (22) बौद्ध संस्कृति का इतिहास, (23) जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, (24) भ. महावीर और उनके दसधर्म, (25) जैनधर्म और पर्यावरण (26) अम्बेडकर और बौद्धधर्म, (27) जैन संस्कृति कोश–तीन भाग – (1) जैन इतिहास, संकृति और पुरातत्त्व, (2) जैन आध्यात्मिक और दार्शनिक चेतना, (3) जैन सांस्कृतिक चेतना, (28) समय की शिला पर उभरते भाव चित्र–चार खण्ड (काव्यसंग्रह), (29) मूकमाटी–चेतना के स्वर (30) जैनधर्म, (31) महावीर और उनके दशधर्म, (32) भारतीय संस्कृतिला बौद्धधर्माचे योगदान (मराठी) (33) महावीरः एक अग्निरेखा (मराठी) (34) जैनधर्म (35) भारतीय दर्शनों में निर्वाण विचार, (36) समयसार का दार्शनिक चिन्तन, (37) जैनबौद्ध संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन, (38) श्रवणबेलगोल के शिलालेखों का अध्ययन, (39) मराठी जैन साहित्य और संस्कृति आदि ये सभी ग्रन्थ शोधपरक और वृहदाकार हैं । आपके ही संपादन में प्राकृत ग्रंथों का पुनर्मुद्रण राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं शोध संस्थान श्रवणबेलगोला से हिन्दी–अंग्रेजी भूमिका साहित्य लगभग बीस भागों में प्राकशित होने जा रहा है । इनके अतिरिक्त उनके शताधिक आलेख भी प्रकाशित हुए हैं।

आप 1985 से 1993 तक लगातार अमेरिका में हुए Assembly of Worlds Religions and Conferences में जैनधर्म के प्रतिनिधि के रूप में विचार प्रस्तुत करने के लिए आमन्त्रित किये जाते रहे हैं । शताधिक राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों में भाग लिया तथा उनके अध्यक्ष रहे हैं और हार्बर्ड विश्वविद्यालय में भी आमन्त्रित हुए हैं ।

डॉ. जैन रत्नत्रय, सुधर्मा, जैनमिलन, नागपुर विश्वविद्यालय जर्नल एवं श्रमण पत्रिकाओं के सम्पादक भी रहे हैं। वर्तमान में आप प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार पत्रिका का सम्पादन कर रहे हैं । आपने डॉ. भागचन्द्र पुष्पलता जैन चेरिटेबल ट्रस्ट की स्थापना कर सन्मति प्राच्य शोध संस्थान की स्थापना की है जिसके अन्तर्गत छात्रवृत्तियां आदि भी दी जाती हैं । आप एक अच्छे कवि भी हैं ।

आपको अभी तक केन्द्रीय सरकार पुरस्कार, महावीर पुरस्कार कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ पुरस्कार, प्रदीप रामपुरिया पुरस्कार, रिद्धिलता पुरस्कार, जेजानी ट्रस्ट पुरस्कार, हस्तिमल जैन सेवा पुरस्कार, अहिंसा इन्टरनेशनल पुरस्कार आदि लगभग पन्द्रह पुरस्कारों से पुरस्कृत किया जा चुका है ।

निर्मलकुमार फडकुले

वर्तमान में पं. जिनदास फडकुले के सुपुत्र निर्मलकुमार फडकुले जैन बोध का पत्रिका के संपादक मण्डलं में हैं सोलापुर कालेज में मराठी विभाग के अध्यक्ष हैं और वारकरी सम्प्रदाय के विशेष अध्येता है । उन्होंने भी मराठी जैन साहित्य पर कुछ निबन्ध लिखे हैं । अभी हाल उन्हें दिल्ली में पूज्य आचार्य श्री विद्यानन्दजी के सान्निध्य में पुरस्कृत किया गया है ।

अन्य मराठी जैन साहित्यकार

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मराठी जैन लेखक, कवि और अनुवादक हुए हैं जिनकी एक–दो रचनायें ही उपलब्ध हैं । उनका हम यहां मात्र नामोल्लेख कर रहे हैं । इनमें अधिकांश रचनायें मराठी में अनुदित हैं ।

फूलचन्द काडुसकर, कोल्हापुर	–	जिन पद्यरत्नमाला (1896)
ब्रह्मचारी हीराचन्द, अकलूज	–	नलचरित, रामायण आदि (सं.1912)
ब्रह्मचारी जीतमल, वर्धा	–	जिन सत्यनारायण पूजा (1904)
कान्ताबाई बालचन्द, सोलापुर	–	श्रमणनारद का मराठी अनुवाद
आर.आ. बोबडे, अकोला	–	जैन पुरोहित (1910), जिनाचारविधि (1911)

सुलोचना बाई भोकदे, सोलापुर	–	जैन महाराष्ट्र लेखिका, दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का इतिहास
माणिकसा मोतीसा खंडारे, कारंजा	–	जिनपद्यकुसुममाला (1912)
हीराचन्द अमीचन्द शहा, सोलापुर	–	यशोधरचरित्र (1912), व्रतशीलकथासंग्रह
शान्तिनाथ गोविन्द कटके, औरंगाबाद		पद्यकुसुमावली (1918), चौबीस तीर्थंकरपूजा
वक्तादास पिंपळनेर	–	कुलभूषण देशभूषण कथा (1919)
माणिकराव कटके, औरंगाबाद	–	परमेष्ठी गुणवर्णन (1919), पंचकल्याणक वर्णन (1927)
सुमतिनाथ कटके, औरंगाबाद	–	सुमति अभंग
रत्ननन्दि भट्टारक	–	भद्रबाहुपुराण का अनुवाद (1921) कल्लाप्पा अनन्त उपाध्याय ने किया ।
नेमचन्द बालचंद गांधी	–	उस्मानाबाद–गोमट्टसार, गुणस्थानचर्चा, सप्ततत्त्वविचार (1922)
देवेन्द्रतनय शमनेवाडी	–	शान्तिसागराचार्यचरित सुधा (1924)
ब्रह्मयस्वामी, कुरून्दवाड	–	अनुभवप्रकाश–गद्य–पद्य मिश्रित (1929)
बाहुबली शर्मा	–	रत्नत्रयसार और वृत्तिविलास का मराठी अनुवाद (1929–31)
विष्णुकुमार डोणगांवकर, कारंजा	–	रत्नकरण्ड तथा द्रव्यसंग्रह (1930)

नरेन्द्रकुमार भिसीकर, सोलापूर	– जैन सिद्धान्त प्रवेशिका (1932), क्षत्रचूडामणि (1938), नियमसार (1963)
अनन्तराव बोंपलकर, सोलापुर	– महामतिसागर जीवनचरित (1934) पार्श्वपुराण (1939)
विद्याकुमार देवीदास	– भक्तामर आदि पंचस्तोत्र (1935), धनंजय नाममाला (1937)
गोपालबालाजी बीडकर	– खरा स्वार्थत्याग (1936), कुलभूषण देशभूषणचरित (1939)
नत्थूसा पासूसा कलमकर	– जैनव्रतकथा संग्रह (1936) चौबीसतीर्थंकर पूजा
कालचन्द्र जिनचन्द्र उपाध्याय	– परीक्षामुख (1937), जैनेन्द्रव्रतकथासंग्रह (1954)
प्रियंकर शिरढोणकर, सांगळी	– कर्णाटक जैन कविकुल(1941), प्राचीन जैनाचार्य (1942)
भट्टारक विशालकीर्ति, लातूर	– भवांकुर (1948)
प्रतापमलकोचर	– निर्ग्रन्थ प्रवचन (1954)
कीर्तिविजय, मुंबई	– अर्हत धर्मप्रकाश (1955)
जयकुमार आलंदकर	– जीवन्धरकथा (1956), ऋषभदेव (1958)
रवीन्द्रकुमार नांदगांवकर	– सागार धर्मामृत (1957)
जय कुमार क्षीर सागर	– यशोधरचरित (1960), क्षत्रचूडामणि
प्रेमचन्द शहा	– जैनधर्म का मराठी अनुवाद
अ. जि. हुपरे	– गीतमहावीर (1963), मैना सुन्दरी

गजकुमार शहा	–	पवनपुत्र हनुमान
आदिकुमार बेडगे	–	कुमार प्रीतिंकर
बालचन्द हीराचन्द दोशी	–	अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ (1960)
हेमचन्द्र वैद्य, कारंजा	–	कैलास काका, शीलसम्राज्ञी वाटिका, उदबोधन
क्षुल्लक आदिसागर	–	मकरध्वज पराजय नाटक
महावीर कंडारकर, बारामती	–	पद्मपुराण (रविषोणाचार्यकृत) का मराठी अनुवाद (1985)
लालचंद परमणकर, परभणी	–	ज्ञानतुषार, जैन आयुर्वेद ।

'बीसवीं शदी के जैन कवि' शीर्षक से नाद लहरी ने एक काव्यसंग्रह संपादित किया, प्रभाकर रणदिवे ने द. भि. रणदिवे की कविताओं का एक काव्यसंग्रह प्रकाशित किया तथा लीलावती सान्तप्पा दुर्गे ने सुमेरु प्रकाशन से अभंग को साहित्यिक क्षेत्र के लिए सौंपा । महावीर कंडारकर का रविषेणाचार्य के पद्मपुराण का मराठी अनुवाद भी 1985 में बारामती (पुणे) से स्वयंभू प्रकाशन सोलापुर से प्रकाशित हुआ वर्तमान में उसके अधिष्ठाता डॉ. सुमेरुचन्द्र जैन ने समयसार, जीवंधर कथा, जैनाचार्य आदि दसों पुस्तकों का प्रकाशन किया। शान्तिलाल भण्डारी का 'अभिनिवेश' लेख संग्रह, जगदीश किल्लेदार का मराठी आराधना कथा कोश, दिलीप इंगोले का मराठी जैन लोककथा साहित्य, मधुकर गडेकर का महावीर गीतकाव्य भी उल्लेखनीय हैं । इसी तरह डॉ. अर्हद्दास डिगे का जैन योग, डॉ. हुकमचंद संघवे का "शास्त्रवार्ता समुच्चय का परिशीलन" तथा डॉ. कुलभूषण लोखण्डे का शोध प्रबन्ध भी अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । डॉ. जिनेन्द्र भोमज, डॉ. पाटिल, प्रो. माधव रणदिवे, डॉ. रावसाहेब पाटील, धन्यकुमार जैनी, डॉ. भागचन्द्र भास्कर आदि विद्वानों ने भी प्राकृत और मराठी जैन साहित्य के क्षेत्र में अपना योगदान दिया है और दे रहे हैं । डॉ. प्रदीप शहा, रवीन्द्र नादगांवकर, विद्याधर उमाठे, हेमचन्द्र जैन, ढेरे, धनंजय शहा, मकरन्द, फूलचंद

गांधी, जस्टिस तुकोल, प्राचार्य जे.के. पाटील, एस.पी. पाटिल जमनालाल जैन, जिनदास जवडे, अजित पाटील, कुरूंदवाडे, लीलाशाह, रतन पहाडी आदि साहित्यकार भी उल्लेखनीय हैं । प्रो. माधव रणदिवे ने प्राकृत के उत्थान के लिए अच्छा कार्य किया है । उनके अनेक छोटे–मोटे ग्रन्थ अनुवाद रूप में प्रकाशित हुए हैं ।

विदुषी जैन महिलावर्ग

महाराष्ट्र में महिला वर्ग में नव जागरण अधिक हुआ है । जैन महिलावर्ग भी उसमें पीछे नहीं रहा । विशेष रूप से दक्षिण महाराष्ट्र में यह जागृति अधिक दिखाई देती है । इसे हम आगे के पृष्ठों से प्रमाणित कर सकते हैं कि जैन महिला वर्ग कितना सजग रहा है ।

कंकुबाई

बीसवीं शताब्दी की अन्यतम उपलब्धि यह है कि इस युग में महिला वर्ग में ऐसी जागृति आयी कि उसने सभी क्षेत्रों में पुरुषवर्ग के कदम से कदम मिलाने का साहस किया । ऐसी साहसी महिलाओं में ***कंकुबाई*** का नामोल्लेख सर्वप्रथम किया जा सकता है जिसने अल्पावस्था में प्राप्त वैधव्य अवस्था की दुःखदर्दी कहानी को आध्यात्मिक सुख में बदल दिया । सेठ हीराचन्द नेमचन्द की सुपुत्री होते हुए भी उन्होंने सांसारिक मोहजाल से बाहर रहकर साहित्यिक साधना को भी अपना व्रत बना लिया। महिलावर्ग की उन्नति के लिए भी उन्होंने अच्छा कार्य किया है । चारित्र शुद्धिव्रत कथा तथा जैन व्रत कथासंग्रह (1921), देवसेनाचार्यकृत तत्त्वसार तथा अमृतचन्द्राचार्यकृत समयसारटीका (समयसार कलश), पद्मनंदि कृत अनित्यपंचाशत् आदि ग्रन्थों के आपके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं । इनके अतिरिक्त दशलक्षणधर्म, मृत्युमहोत्सव, सल्लेखना आदि छोटे–छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थ भी सामने आये हैं । महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा में आपकी स्मृति में कंकुबाई धार्मिक पाठ्य पुस्तक माला स्थापित की गई जिससे लगभग बीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं ।

सोनाबाई जिंतूरकर

इसके बाद *सोनाबाई जिंतूरकर* कारंजा, द्वारा 1925 में देवेन्द्रकीति सुधानिधि नामक पद्यबद्ध रचना लिखी गई, *कान्ताबाई बालचन्द* ने श्रमणनारद का मराठी अनुवाद किया और *सुलोचना बाई भोकरे* ने जैन महाराष्ट्र लेखिका तथा दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का इतिहास लिखा ।

पण्डित सुमतीबाई शहा

पं. सुमतीबाई शहा 20–30 वर्षो के बाद सोलापुर श्राविकाश्रम की संचालिका न्यायतीर्थ (मृत्यु 6 जुलाई 2000) ने इस क्षेत्र में पदार्पण किया। उन्होंने 14–15 पुस्तकें लिखीं । उनके चिन्तनात्मक लेखों का संग्रह 'सुमती प्रज्ञा' नाम से प्रकाशित हुआ । 'हे गीत जीवनाचे' शीर्षक से उनका आत्मचरित्र भी काफी लोकप्रिय हुआ । इनके अतिरिक्त हृदयगंध, भाव पल्लवी, स्वर्णरेखा, ज्ञानगीता, आदिगीता, महापुराण, रामायण (1965), द्रव्य संग्रह (1968), ग्रन्थ भी प्रकाश में आये ।

वासन्ती शहा

इसी तरह *वासन्ती शहा* का पहला सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य (1965) तथा संस्कृति गंगा भी उल्लेखनीय हैं । पं. मगलबाई, क्षु. राजुलमती, कलंत्रे अक्का, लीलावती दुगे सांवंप्पा के नाम भी उल्लेखनीय हैं । सावंतप्पा की आत्मकथा नारी शिक्षा आन्दोलन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने 1938 में फीमेल एजुकेशन सोसायटी की स्थापना निपाणी में कर इस कार्य को और आगे बढाया । 'लीलावती सावंताप्पा' नामक आत्मकथा में उन्होंने यह सब स्पष्ट किया है । ऐसी ही सामाजिक सेवा करते–करते वे 13 जुलाई 1984 को चल बसी ।

स्व. लीलावती सुमेरचंद्र जैन

स्व. लीलावती जैन का स्वयंभू प्रकाशन, सोलापुर ने जैन साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में पूरी निष्ठापूर्वक काम किया है जिसे अब उनके पतिदेव

प्राचार्य सुमेरुचंद जैन देख रहे हैं । उन्होंने स्वयं अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । जिन वन्दना, कथा सौरभ, जैन श्रावकाचार, जैन कथा, जैन तत्त्वज्ञान, जैन महापुरुषों के चरित्र पर उनकी प्रभावशाली लेखनी चली है । उनके हिन्दी–मराठी और मराठी–हिन्दी कोषों का भी उल्लेख किया जा सकता है।

लीलावती जैन

द्वितीय ***लीलावती जैन*** पुणे की धर्ममंगल साप्ताहिक की संपादिका और प्राध्यापिका हैं जिन्होंने इस पत्रिका के माध्यम से सामाजिक जागृति का प्रशंसनीय कार्य किया है । इसी तरह पत्रकारिता के क्षेत्र में 'ज्ञानशलाका' की संपादिका वासंतीबेन और 'श्राविका' मासिक की संपादिका ***विद्युल्लता शहा*** को भी नहीं भुलाया जा सकता है जिनके लेखों ने अन्धश्रद्धा का उन्मूलन करते हुए जैन शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया है । समाज प्रबोधन की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण योगदान हैं ।

विद्युल्लता शहा

एक और ***विद्युल्लता शहा*** का नाम उल्लेखनीय है जो नांदेड की प्रसिद्ध कीर्तनकार रतनबाई की ज्येष्ठ कन्या हैं । वे सतत उद्यमश्रीलता की प्रतिमूर्ति हैं । सोलापुर श्राविकाश्रम की संचालिका पद से अभी अभी निवृत्त हुई हैं । उन्होंने विविध जैन विषयों पर अनेक लेख लिखे जिनका संकलन 'तेजा चा वारसा' नाम से प्रकाशित हुआ । लगभग 75 वर्ष की अवस्था में भी स्वस्थ और स्वाध्यायरत विद्युल्लता शहा मराठवाडा क्षेत्र की प्रसिद्ध जैन विदुषी हैं । उन्होंने सोलापुर, औरंगाबाद, मदनपल्ली, वर्धा, मुंबई आदि अनेक नगरों की शिक्षण संस्थानों में उच्चस्तरीय शिक्षा लेकर शिक्षा शास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए इंगलेण्ड गईं और वहां से Western Indians शीर्षक पुस्तक लिखकर पी–एच.डी. प्राप्त की । 1984 में सेवानिवृत्त होते ही उन्होंने अपनी सारी संपत्ति का 'गोमटेश ट्रस्ट' नाम से एक ट्रस्ट बना दिया जिसके तहत ज्ञानदान और धर्मदान में संपत्ति का सदुपयोग होना शुरू हो गया । उनकी लिखी

'तीर्थंकर महावीर राजूलमाता, जीवनचरित तथा "सारे एकानावेचे प्रवासी" पुस्तकें बडी लोकप्रिय हुईं जैनदर्शन के क्षेत्र में । कुशाग्रनन्दी महाराजश्री ने उन्हें 'नारी रत्न' अलंकरण से संमानित किया । बारह फुट की मनोज्ञ बाहुबली प्रतिमा को उन्होंने औरंगाबाद के समीपवर्ती पार्श्वनाथ क्षेत्र पर प्रतिष्ठित कर एक आदर्श साधिका शिक्षिका का निदर्शन प्रस्तुत किया है । वे एक सेवाभावी और स्वाध्यायी विदुषी हैं । उनकी समग्र सामाजिक सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें विद्यासागर पुरस्कार, जैन साहित्य पुरस्कार आदि और भी अनेक पुरस्कारों से संमानित किया गया है ।

इन्दुमती आबाडे इचलंकर

इन्दुमती आबाडे इचलंकर प्रसिद्ध उद्योगपति लोक सांसद कल्लाप्पा आबाडे की पत्नी और महाराष्ट्र के वस्त्रोद्योग मंत्री प्रकाशराव आबाडे की मातोश्री है । आपने वनिता महिला मण्डल, महिला सहकारी बैंक, महिला स्पिनिंग मिल, इन्दिरा गांधी महिला सहकारी गिरणी की स्थापना कर महिलाओं के आत्मिक और आर्थिक–सामाजिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया हैं। उन्होंने शैक्षणिक क्षेत्र में भी अच्छा कार्य किया है । जैन दर्शन की भी वे विदुषी हैं । जैन मिलन फाउण्डेशन और पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव की ओर से श्राविकारत्न, महाराष्ट्र स्टेट की ओर से गौरव, अ.भा. जैन महिला संमेलन की ओर से ब्राह्मी सुन्दरी अलंकरण पुरस्कार, सहयोग फाउण्डेशन बंबई की ओर से ग्रामीण मसीहा जैसे अलंकरणों से आपको विभूषित किया गया । अखिल भारतीय जैन मराठी साहित्य संमेलन तथा दक्षिण भारत जैन सभा से भी आप संबद्ध हैं। स्वभाव से मधुर और कार्य में समन्वित साधना लेकर चलने वाली इन्दुमती आज बडी लोकप्रिय जैन महिला विदुषी हैं । एक अन्य इन्दुमती शहा ने अपने पिता रतनचंद हीराचंद की आत्मकथा लिखी हैं ।

डॉ. प्रमिला

अकोला नगर की वैभव *डॉ. प्रमिला प्रख्यात* स्त्रीरोग विशेषज्ञ और समाजसेविका थी । आपने 80 वर्ष की अवस्था में आचार्य पुष्पदन्त सागर से

अक्टोबर 2000 में आर्यिका दीक्षा ग्रहण की और परखश्री माताजी के नाम से विश्रुत हुई । अकोला में आपका नर्सिंग होम था । अनेक सेवाभावी कार्यों के बदले आपको 1999 में 'सेवाश्री' पुरस्कार से संमानित किया गया । अनेक संस्थानों से संबद्ध रही डॉ. प्रमिला के पती श्रीपाल प्रसिद्ध वकील थे । उनके कनिष्ठ पुत्र सुनील ने भी आचार्य पुष्पदन्त जी से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर ब्र. प्रभात के नाम से संघस्थ हो गये । परखश्री माताजी की समाधिकरण 2002 में नागपुर में हो गया । दोनों पुत्र संयम मार्ग पर दृढ होकर स्वाध्याय में लीन हैं और आत्मसाधना कर रहे हैं ।

डॉ. पद्मा किल्लेदार

डॉ. पद्मा किल्लेदार प्रो. जगदीश किल्लेदार की पत्नी और पं. ध न्यकुमार भौरे की बहिन हैं । उनका भी प्रारम्भिक अध्ययन कारंजा में हुआ । पारिवारिक परेशनियों के बीच संघर्ष करते हुए वे अध्ययन में जुटी रहीं । विवाह के बाद नागपुर में आकर उनकी अध्ययन पिपासा और भी जाग्रत हुई और डॉ. हीरालाल जैन के सहयोग से उन्होंने पालि–प्राकृत विषय में एम. ए. कर लिया। 1956 में नागपुर महाविद्यालय में प्राध्यापिका हो गई और बाद में नागपुर विश्वविद्यालय में पालि–प्राकृत विभाग स्थापित होने के बाद उनकी नियुक्ति वहां हो गई सन् 1963 में । मैं 1965 में इस विभाग में विभागाध्यक्ष के रूप में आया । तबसे पद्माजी हमारे साथ ही अध्यापन कार्य करती रहीं । 1976 में उन्हें "जैन बौद्ध परिभाषेतील योगसाधने च तौलनिक अध्ययन" विषय पर पी–एच. डी. उपाधि प्राप्त हुई। नियमित अध्ययन–अध्यापन में ही उनका सारा जीवन लग गया । 1985 में सेवा निवृत्त होने के बाद भी आज वे स्वाध्याय में लगी रहती है । धैर्य, हिम्मत, सदाचार ही पद्माजी की कमाई है । आल इंडियों रेडियों पर वार्तायें तथा पत्र–पत्रिकाओं मे चिन्तनपरक लेख प्रकाशित होते रहते हैं ।

क्षुल्लिका विशालमति

क्षुल्लिका विशालमति का जन्म कोल्हापुर के ग्राम चोकांक में हुआ।

उन्होंने मात्र चौदह वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री शान्तिसागर जी से आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत लिया और टीचर्स ट्रेनिंग लेकर स्वतन्त्र रूप से अध्यापिका का जीवन व्यतीत किया । बाल्यावस्था में बालविवाह न कराने का क्रान्तिकारी सामाजिक विद्रोह भी आपने मोल लिया जो सामाजिक सेवा के रूप में परिणत हुआ । 'महिला वैभव' नामक पत्रिका का सम्पादन और कन्या पाठशाला की स्थापना आपकी सामाजिक सेवाओं की ही कडी है । अन्त में आपने बोरगांव में आचार्य श्री पाय सागरजी से क्षुल्लिका दीक्षा लेकर अध्यात्म साधना में लीन हो गईं ।

बीजापुर में 17 अप्रैल 1944 को माताश्री सोनुबाई की कोख से जन्मी शकुन्तला ने पिताश्री छगनलाल के आश्रय में रहकर बी.ए. आनर्स कर स्वर्णपदक प्राप्त किया और बाद में एच.एम.डी.एस. की आयुर्वेदिक उपाधि लेकर 1966 में डॉ. चन्द्रकान्त गुलाबचन्द दोशी के साथ परिणय में बंध गई । आपने पारिवारिक जीवनकाल में जैन आध्यात्मिक ग्रन्थों का गहन पारायण किया, चिन्तन, मनन और अध्ययन किया ।

गृहस्थावस्था में इस धर्मपरायणता ने डॉ. चन्द्रकान्त को वीर सागर मुनि बना दिया और शकुन्तला को क्षुल्लिका चन्द्रमति नाम दे दिया । उन्होंने अपने इस आध्यात्मिक जीवन में स्वाध्याय के साथ ही लेखन कार्य भी किया ।

सुरेखा शहा

सोलापुर की **सुरेखा शहा** पिछले तीस वर्ष से सतत लेखनकार्य में लगी हुई हैं । नमोनाट्य, कथा उपन्यास, कविता, एकांकी, नाटक, प्रवासवर्णन, अनुवाद, ललितलेख, बाल–कुमार साहित्य, पथनाट्य आदि विधायें उनके लेखन से समृद्ध हुई हैं । चक्रव्यूह, जन्मठेप, नायक, पानगळ, कहत बनारसी, यती, मृगजळ, स्वप्न गवसले हाती आदि उपन्यास, एकांकी संग्रह, गीत गोमटेश नामक काव्यसंग्रह, सुंदर कथा नामक कथासंग्रह आदि प्रकाशित हुए हैं । विद्यायतन पुरस्कार, धर्ममंगल पुरस्कार, महाराष्ट्र जैन साहित्य परिषद् पुरस्कार

आदि अनेक पुरस्कारों से आपको संमानित भी किया गया है । ***सुरेखा शहा*** ने कथाओं और उपन्यासों के माध्यम से जैन जीवन पद्धति पर अच्छा प्रकाश डाला । सुमेरूप्रकाशन डोंबीवली (बम्बई) से उनके पांच कथासंग्रह प्रकाशित हुए हैं । उन्हीं का बनारसीदास चरित भी छपा है । उन्हें 'जोहए' चरित्रात्मक उपल्यास पर दमाडी पुरस्कार प्राप्त हुआ । इसी तरह सुरेखा शहा के साथ ही हम ***लीलाशहा*** का भी उल्लेख कर सकते हैं जिन्होंने बाल साहित्य लेखन में अच्छा नाम कमाया है । उनके लेखन पर उन्हें ***ताराबाई मोडक*** बाल साहित्य पुरस्कार से संमानित किया गया । "अल्बर्ट वाइट्झर' पुस्तक पर महाराष्ट्र सरकार ने सर्वोच्च उत्कृष्ट साहित्यकार के रूप में पुरस्कृतकर उनका अभिनंदन किया । महाराष्ट्र शासन ने उनकी आठ पुस्तकों को भी आपरेशन ब्लेक बोर्ड योजना के लिए स्वीकृत किया है ।

डॉ. पुष्पलता जैन

कर्मशीला **डॉ. पुष्पलता जैन** का जन्म 20 सितम्बर 1941 में सागर में हुआ पर 1962 में डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर के साथ विवाह हो जाने पर उनका कर्मक्षेत्र नागपुर बन गया । प्रारम्भिक शिक्षा हाईस्कूल तक सागर में हुई और उसके बाद का शिक्षण बी.ए., बी.एड., एम.ए. (हिन्दी और भाषाविज्ञान–1970 –1974, 1975, 1978 तथा पी–एच.डी. (हिन्दी और भाषाविज्ञान) नागपुर विश्वविद्यालय से हुआ । सामाजिक क्षेत्र में आपने जैन सेवा मण्डल, जैन मिलन, विदर्भ महिला क्रिकेट एसोसियेसन आदि संस्थाओं की सचिव आदि विभिन्न पदों पर रहकर कार्य किया है । एस.एफ.एस. कालेज, नागपुर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद से सेवानिवृत्त हुई 2001 में । वर्तमान में आप सन्मति प्राच्य शोध संस्थान की मानद उपनिदेशक पद पर अपनी सेवायें दे रही हैं ।

आपकी अभी तक निम्नलिखित साहित्यिक कृतियां प्रकाशित हो गई हैं – 1) मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में – रहस्य भावना (पी–एच.डी. शोधप्रबन्ध)

जिसका द्वितीय संस्करण जैन रहस्यवाद नाम से प्रकाशित हुआ, 2) मरारी बोली का भाषावैज्ञानिक अध्ययन (पी–एच.डी. शोधप्रबन्ध), 3) हिन्दी जैन काव्य और प्रवृत्तियां, 4) जैन सांस्कृतिक चेतना, 5) दोहाकोश–सम्पादन–अनुवाद । इनके अतिरिक्त लगभग 75 शोध निबन्ध प्रकाशित हो गये हैं । 1985 में आपको Assembly of Words Religions Conference में जैनधर्म पर शोधपत्र प्रस्तुत करने का भी अवसर मिला है।

डॉ. कुसुम पटोरिया

सन् 1950 में इन्दौर में जन्मी *डॉ. कुसुम पटोरिया* ने 1974 में श्री राजेन्द्र पटोरिया से विवाह होने के बाद 1975 में नागपुर को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । आपने एम.ए. (संस्कृत) और पी–एच.डी. इन्दौर विश्वविद्यालय से किया और डी. लिट् उपाधि नागपुर विश्वविद्यालय से 2003 में प्राप्त की। वर्तमान में आप नागपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्राध्यापक हैं । आपने पी–एच.डी. लीलाबाई कहा पर की है जो प्रकाश्य है । इसके अतिरिक्त यापनीय सम्प्रदाय और उसका साहित्य पुस्तक वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट से प्रकाशित हुई है । एक काव्य संग्रह भी छप चुका है । आपके दसों निबन्ध भी प्रकाशित हो चुके हैं। प्रोफेसर पटोरिया एक प्रतिभा सम्पन्न विदुषी हैं जिनसे समाज को बडी आशा है ।

कुमुदिनीबाई

सोलापुर का औद्योगिक परिवार बालचंद हीराचंद, लालचंद हीराचंद, गुलाबचंद रतनचंद और गोविंदजी रावजी दोशी समूचे जैन समाज के लिए एक गौरव का विषय है । उसने सोलापुर के वैभव को बढाने में जो योगदान दिया है और त्याग किया है वह अविस्मरणीय है । इस परिवार ने इंजीनियरिंग कालेज आदि अनेक शैक्षणिक और सामाजिक संस्थान संस्थापित किये हैं । उन्ही ने 'जैन बोधक' पत्रिका भी प्रारम्भ की जिससे सामाजिक विकास की प्रक्रिया शुरू हुई । **कुमुदिनीबाई** उसकी प्रथम संपादिका थी । संपादिका के

रूप में उन्होंने इसमें जैन साहित्य और समाज के उद्धार के लिए विशेषतः महिला वर्ग के उद्धार के लिए जो कार्य किये हैं वे नितान्त अनुकरणीय हैं ।

सरयू ताई

मराठी क्षेत्र में 'जैन बोधक' पत्रिका कदाचित् सर्वाधिक पुरानी पत्रिका हैं । उसकी संपादिका *स्व. कुमुदिनी* के बाद *सरयू ताई* ने उसमें अपने कुशल संपादन से चार चांद लगा दिये । उन्होंने जैन समाज की सुप्त प्रतिभाओं को जाग्रतकर लेखिका बना दिया । उनके धार्मिक और सामाजिक लेखों ने आज इस पत्रिका को लोकप्रियता के शिखर पर चढा दिया है ।

हेमलता जोहरापुरकर

श्री अरविन्द जोहरापुरकर की विदुषी पत्नी हेमलता जोहरापुरकर मराठी साहित्य की उदीयमान लेखिका हैं । वर्तमान में वे भारसिंगी महाविद्यालय काटोल की प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुई हैं । उन्होंने मराठी जैन आख्यानक काव्य पर पीएच.डी. उपाधि नागपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त की है । उनके तपस्वी तथा हखलेते गवस्लेका नामक उपन्यास तथा काव्यसंग्रह और बालकथा साहित्य भी प्रकाशित हुआ है । मराठी जैन साहित्य पर उनके अनेक निबन्ध भी प्रकाश में आये हैं । वर्तमान में तीर्थंकर नामक मराठी मासिक पत्रिका की सह सम्पादिका हैं ।

अन्य विदुषी लेखिकाएं

जिन लेखिकाओं के एक–दो जैन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें *स्मिता शहा* का पूजाविधान, *डॉ. उज्वला शहा* का करणानुयोग, *सन्मति शहा* का भ. बाहुबली, *विशल्यादेव बंगवाल* का 'महावीर', *जंबूवती शहा* का 'अर्घ्य' व 'भक्ति सुमने' काव्य संग्रह और *वृषाली मगदुम* के साकव और विराणी नामक दो काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं । इनके अतिरिक्त *मेघा अलासे, मीना गरीबे, सुशीला बालचाले, शोभना शहा, नयना पाटिल, सुजाता शहा, प्रतिभा शहा, सुनेत्रा नकाते, उदिता शहा, उषा तुपकर, लीना चवरे,*

रजनी शहा, कांचन वनकुद्रे, लीला शहा, सरिता शहा, स्वाती शहा आदि अनेक जैन महिला साहित्यकार हैं जो जैन साहित्य और समाज की सेवा में अपनी प्रतिभा का उपयोग कर रही हैं । सन्मति, तीर्थंकर, श्राविका, दिव्यध्वनि, सार्वधर्म, अरिहंत, पंचरंग प्रबोधिनी आदि नियतकालिक पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों से पता चलता है कि आजकल जैन समाज में महिलावर्ग भी कितना प्रगतिपथ पर बढ चला है। लीना चवरे ने भी मराठी जैन साहित्य पर पी–एच.डी. शोध प्रबन्ध लिखा है। ऐसी और भी अनेक महिलायें हैं जो मराठी जैन साहित्य पर शोध कार्यरत हैं। तीर्थंकर पत्रिका में प्रकाशित मराठी कथा साहित्य भी उल्लेखनीय है जिसपर पीएच. डी. शोधप्रबन्ध लिखा जा रहा है ।

महाराष्ट्र के इस जैन साहित्य के सर्वेक्षण से यह तथ्य सामने आता है कि 19 वीं शती का द्वितीय शतक जैन साहित्य और समाज का एक विशिष्ट परिवर्तनकारी समय रहा है । नागपुर, वर्धा, मुंबई, शोलापुर, कोल्हापुर, बेलगांव, सांगली, पूना आदि स्थान शैक्षणिक केन्द्र हो गये थे परिणामतः यहां का जैन समाज शिक्षा के क्षेत्र में काफी आगे बढा और साहित्य की भी रचना होने लगी। अनेक पत्र–पत्रिकायें और शिक्षण संस्थान स्थापित हो गये । पण्डित पार्टी और बाबू पार्टी के बीच द्वन्द्व शुरू हो गया । अनेक जैन परिषदों ने समाज और साहित्य को आधुनिकता और प्राचीनता के बीच सुन्दर सेतुओं का निर्माण किया। इससे नये साहित्यकारों का जन्म हुआ उनमें प्रमुख हैं – डॉ. हेमचंद्र, श्री. पी. बी. पाटील, राजेन्द्र बीडकर, महावीर व अरविंद जोंधळे, अ.जि. हुपरे, कुन्तिनाथ कर्के, विकास शहा, लालचन्द हरिश्चन्द्र, महावीर कन्डारकर, बाळ चौगुले, ज. ने. क्षीरसागर, जि. ता. जबडे, प्रदीप शहा, शान्तिलाल भंडारी, श्रीधर हेरवाडे, विष्णुकुमार देशमाने, सगरे गुरुजी, मद्वाण्णा गुरुजी, माधव रणदिवे, विजय आवटी, आदिनाथ कुरुन्दवाडे, मृत्युंजय मालगावे, विद्युल्लता शहा, सुरेखा शहा, लीलावती सुमेरचन्द, अश्विनी शहा, शोभना शहा, सरयू दोशी, सरयू दफ्तरी इत्यादि।

इस प्रकार यहां हमने महाराष्ट्र में रहने वाले समग्र उन जैन मनीषियों का संक्षिप्त लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है जिन्होंने बीसवीं शताब्दी में अपनी प्रतिभा, श्रम और शक्ति से जैनधर्म, साहित्य, दर्शन और संस्कृति को पुष्पित और पल्लवित किया है । ऐसे ही मनीषियों में कुछ और भी मनीषियों के नाम स्मृतिपथ पर आ जाते हैं । उदाहरण के तौर पर बेलगांव भले ही कर्णाटक में हो पर संक्रान्ति क्षेत्र होने के कारण मराठी जैन सांस्कृतिक परम्परा की बात करते समय मन उसका उल्लेख किये बिना नहीं रह पाता । यही स्थिति बीजापुर की है । जब बेलगांव का प्रसंग आता है तो उसके समीपवर्ती पुण्यस्थलों पर जन्म लेने वाले चार पुण्यात्माओं का नाम ध्यान में आ जाता है – 1) आचार्य शान्तिसागरजी महाराज जिनका जन्म सन् 1872 में भोजक्षेत्र के यलगूड में हुआ, 2) आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज जिनका जन्म सन् 1903 में कोथली क्षेत्र में हुआ, 3) आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज जिनका जन्म सन् 1925 में शेडवाल में हुआ, और 4) आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज जिनका जन्म सन् 1946 में सदलगा में हुआ । इन चारों अध्यात्मिक सन्तों ने समाज और साहित्य को बहुत कुछ दिया है । उनका महाराष्ट्र से काफी सम्बन्ध रहा है । हमारी अज्ञानतावश कतिपय और भी मनीषी इस लेखनी में कदाचित् आबद्ध नहीं हो पाये होंगे उन्हें हम आगामी संस्करण में यथास्थान सम्मिलित करने का प्रयत्न करेंगे।

चतुर्थ परिवर्त

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ

प्राचीन मराठी जैन साहित्य पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य अकथ्य नहीं रह जाता कि यह साहित्य सर्व साधारण जनता के लिए लिखा गया था। उसमें गहन दार्शनिकता और ऐतिहासिकता के तत्त्व दृष्टिगत नहीं होते । पुराण, चरित्र, कथा, व्रत जैसे सार्वजनिक विषयों पर ही अधिक लिखा गया हैं विजिगीषु वृत्ति का न होना भी एक कारण माना जा सकता है । इसके बावजूद जो कुछ भी तत्त्व उपलब्ध होते हैं उन पर प्रकाश डाला जा रहा है । इन तत्त्वों में दर्शन, इतिहास, कला और पुरातत्त्व को हम विशेष रूप से संदर्भित करना चाहेंगे ।

१) तत्त्वज्ञान

जैन तत्त्वज्ञान की दृष्टि से प्राचीन मराठी जैन साहित्य को समृद्ध नहीं कहा जा सकता । आत्मख्याति टीका, स्वात्मविचार, परमहंसकथा, रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका जैसे कुछ ग्रन्थ अवश्य हैं जिनमें जैन दर्शन के कतिपय बिन्दुओं का ही स्पर्श किया गया है । रत्नत्रय, सप्ततत्त्व, नव पदार्थ, षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय, अष्ट कर्म, ध्यान श्रावकाचार, श्रमणाचार आदि विषयों पर इन ग्रन्थों में सामग्री खोजी जा सकती है । आचार विषयक सामग्री निश्चित रूप से अपेक्षाकृत अधिक है ।

धर्मामृत में त्रेपन क्रियाओं का वर्णन मिलता है – 12 व्रत, 8 मूलगुण,

समताभाव, 11 प्रतिमा, 4 दान, जलगालन, रात्रिभोजनत्याग, 3 रत्नत्रय और 12 तप । वहीं आचार्य ने षट्कर्मों का भी व्याख्यान किया है – देवपूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान । सप्त व्यसनों के त्याग का भी वर्णन श्रावकचर्या में किया गया है । नैमित्तक व्रतों में अनन्तव्रत, पुष्पांजलि, आदत्यवार, सुगन्धदशमी, नंदीश्वर, गरुडपंचमी, मेघमाला, रूक्मणि, कलशदशमी, दशलक्षण, कर्माष्टमी आदि व्रतों का उल्लेख मिलता है।

यतिधर्म में 28 मूलगुण (5 महाव्रत, 5 समिति, 5 इन्द्रियनिरोध, षडावश्यक, अचेलकत्व, अस्नान, अदन्तधावन, भूमिशयन और स्थिति भोजन, एक मुक्ति, केशलुंचन), पंचाचार 13 प्रकार का चारित्र (5 व्रत, 5 समिति, 3 गुप्ति), 12 तप, 10 धर्म, 12 अनुप्रेक्षाओं का वर्णन मिलता है ।

मध्ययुगीन भट्टारक परम्परा में नित्यव्रतों में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ पर नैमित्तिक व्रतों की संख्या में अभिवृद्धि हुई । सामाजिक दृष्टि से यह परिवर्तन विशेष आवश्यक भी था । इस काल में दान, पूजा का महत्त्व अधिक बढा । कृषि कर्म पर भी असर पडा । उद्योग वाणिज्य में भी जहां हिंसा होने की संभावना रही वहां उस पर अंकुश लगाया गया । रात्रिभोजन त्याग और जल गालन क्रिया पर महत्त्व दिया गया । श्रमणाचार की अपेक्षा श्रावकाचार का वर्णन आचार्यों ने अधिक किया । अधिकांश ग्रन्थकार गृहस्थ विद्वान थे । मुस्लिम आक्रमणों के कारण मन्दिर नष्ट भ्रष्ट हो गये, दिगम्बरावस्था में परिभ्रमण करना सरल नहीं रहा । ऐसी स्थिति में श्रावक समुदाय को सुस्थिर और व्रतशील बनाये रखने के लिए ग्रन्थकारों ने उनकी आचार प्रक्रिया पर विशेष ध्यान दिया । समाज में कर्मकाण्ड बढा और ज्ञान काण्ड के प्रति अभिरुचि कम हुई । फलतः साहित्य – सृजन कम हो गया और उसकी गुणवत्ता पर भी प्रश्न चिन्ह खडा हो गया । मध्ययुगीन साहित्य या तो अनुदित है या पौराणिक है । मौलिक साहित्य की नितान्त कमी बनी रही है ।

२) भट्टारक परम्परा

मराठी साहित्य में भट्टारक सम्प्रदाय की दो परम्परायें मिलती है – सेनगण और बलात्कारगण।

सेनगण

सेनगण की परम्परा उत्तर भारत में नहीं है । महाराष्ट्र में कोल्हापुर व कारंजा ये दो ही स्थान हैं जहां सेनगण के पीठ विद्यमान हैं । नागपुर में सेनगण का मन्दिर है पर वहां पीठ नहीं है । इस गण का कार्यक्षेत्र कर्नाटक रहा है । कोल्हापुर में पुरानी भाषा कन्नड थी । कोल्हापुर के समीपवर्ती क्षेत्र में कन्नड़ शिलालेख मिले भी हैं । बाद में पेशवाओं का राज्य होने पर वहां मराठी भाषा का व्यवहार अधिक होने लगा । भट्टारकों ने भी मराठी भाषा में लिखना प्रारंभ कर दिया । कोल्हापुर और कारंजा पीठों में आदान–प्रदान भी खूब हुआ । दोनों पीठों के भट्टारक एक दूसरे के स्थानों पर आने–जाने लगे ।

बलात्कारगण

ईडर (गुजरात), कारंजा, लातूर, देवगिरि, व औरंजागाद में बलात्कारगण के पीठ रहे हैं, ब्रह्मजिनदास सकलकीर्ति भट्टारक के शिष्य थे । ब्रह्मजिनदास ही गुणकीर्ति के नाम से ईडर के पीठासीन रहे । ब्रह्म शांतिदास भी वहीं रहे। लातूरपीठ पर अजितकीर्ति, विशालकीर्ति, महीचन्द्र, चन्द्रकीर्ति, लक्ष्मीकीर्ति, रामकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति आदि भट्टारक हुए । ईडर के भुवनकीर्ति ने देवगिरिपीठ की स्थापना की और उजंतकीर्ति को पीठासीन किया । औरंगाबाद पीठ की स्थापना कारंजा के भट्टारक धर्मचन्द्र ने की और वहां पासकीर्ति को बैठाया । उनके बाद अनुकीर्ति, दया भूषण, विजयकीर्ति हुए। ये सभी भट्टारक मराठी ग्रन्थकार रहे हैं ।

३) ऐतिहासिक सन्दर्भ

प्राचीन मराठी साहित्य मूलतः धार्मिक साहित्य रहा है । उसका कोई भी ग्रन्थ विशुद्ध ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक नहीं है । वहां इतिहास और भूगोल की चर्चा मिलती भी है तो आनुसंगिक रूप से । रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों की कथाओं का सम्बन्ध लौकिक आख्यान से रहा है जिन्हें जैन परम्परा ने यथावश्यक सुधारकर अपनाया है । उसका सम्बन्ध इतिहास से उतना

नहीं है जितना समाज से । इसलिए सामाजिक आवश्यकता के अनुसार उनमें अपेक्षित परिवर्तन कर लिया गया है । ऐसी कथाओं का वर्णन करते समय सामाजिक जीवन का लेखा जोखा होना स्वाभाविक है । इसलिए खान–पान, पोशाक, उद्योग, व्यापार, आवागमन के साधन, उत्सव आदि जैसे मुद्दों का उल्लेख होना स्वाभाविक ही है । हां, गुरुपरम्परा का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है जिसे इतिहास की परिधि में लिया जा सकता है ।

महावीर निर्वाण के बाद 683 वर्ष वाली आचार्य परम्परा का उल्लेख उपदेश रत्नमाला (1.27–35) में भट्टारक जिनसेन ने किया है । उत्तरकाल में इसी का स्थान गुरुपरम्परा ने ले लिया । मध्ययुग में भट्टारक परम्परा का सूत्रपात हुआ । शंकराचार्य की मठ परम्परा का अनुकरण करते हुए जैन संघ में भट्टारक पीठों का निर्माण हुआ । जगह–जगह उनकी गद्दियां स्थापित हो गई । भट्टारकों को सिंहासनपति; तक्ताधीश, बना दिया गया। वे धर्मगुरु न होकर समाज के शासक बन गये । और फिर समाज के शासक बनने का पथ सरल भी नहीं रहता । सन् 1238 का एक उल्लेख ऐसा भी है जिसमें भट्टारक होने के विवाद में राज दरबार की ओर से आज्ञा निकालनी पडी।

विशुद्ध ऐतिहासिक सन्दर्भ की दृष्टि से मराठी–जैन साहित्य और भी समृद्ध नहीं है । उस समय दक्षिण में मुस्लिम शासन का बाहुल्य था । मुस्लिम आक्रमण कारियों से जैन मन्दिर और शास्त्रभण्डार ध्वस्त हो रहे थे। वैदिक मतानुयायियों ने भी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों को क्षतिग्रस्त कर दिया था । आर्थिक संसाधन कम हो जाने से समाज विपन्न होने लगी थी । राजसत्ता के विरोध में खडा होने का साहस कम हो चुका था । इसलिए विशुद्ध ऐतिहासिक सन्दर्भ प्राचीन मराठी साहित्य में अधिक उपलब्ध नहीं होते । देवेन्द्रकीर्ति विरचित 'कालिका पुराण' अवश्य इस कमी की पूर्ति करता है । उसमें कासार, वोगार आदि समाजों की संरचना कैसे हुई और राजपरिवारों से उनका सम्बन्ध कैसा रहा इस विषय पर प्रकाश पड़ता है।

कालिका पुराण में राजा हेमवन्त का उल्लेख आया है जिसे सिकन्दर

खान ने माण्डलिक होने का दर्जा दिया था । डॉ. सुभाष अक्कोले ने इस पुराण में देवेन्द्रकीर्ति की कल्पना खोजी है । उनके अनुसार 42–43 वें अध्याय में मुस्लिम राज्य की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है । पाण्डवों के बाद 'आंबुबुधत्रास' नामक राजा हुआ । उसकी कन्या के साथ रणकंद नामक ऋषि ने संभोग किया । उसके गर्भ से मुसल ऋषि ने जन्म लिया । वही बाद में मुसलमान के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इस ऋषि की माता हिन्दवानी थी । कलमा पढाकर उसे उसने मुसलमान बना लिया । मुसलमानों ने मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट–भ्रष्ट किया । अंबुबुधत्रास ने उसे दण्डित करने का प्रयत्न किया, पर राजकुमारी का प्रेम हो जाने के कारण यह संभव नहीं हो सका । अंबुबुधत्रास ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर राज्य सौप दिया । उसका नाम बदलकर हामरपातशा कर दिया । फिर तोमरपातशा का राज्य हुआ । हेमवन्त के साथ उसका युद्ध हुआ । हेमवंत ने खरबंडी गांव की स्थापना की । इस पौराणिक कथा में ऐतिहासिक सन्दर्भ इतना ही है कि मुस्लिम सम्प्रदाय ने हिन्दुओं को बहुत कष्ट दिया ।

बोगार व तगर बोगार की उत्पत्ति के विषय में भी कालिका पुराण उल्लेखनीय है । उसके 46 वें अध्याय में तगर बोगार की उत्पत्ति कैसे हुई इसका वर्णन किया गया है । तदनुसार बेरगुल नगर में बिजोल नामक राजा था । उसकी दासी के पुत्र तगर और मगर शिव भक्त थे और उसकी बोगार सोमवंशी जैनधर्म का अनुयायी था । बोगार के साथ उनका झगडा हुआ । शिकन्दरखान ने उन्हें दण्डित किया । देवेन्द्रकीर्ति ने उन्हें माफी दिलायी । इस कथा का तात्पर्य यही है कि दक्षिण भारत में बोगार और लिंगायतों के बीच सम्बन्ध कटुतामय रहे हैं । बीजापुर के इन्द्रसेन ने वोगारों को माफ कया ऐसा भी यहां उल्लेख मिलता है ।

कालिक पुराण में सोमवंशी साठ और सूर्यवंशी छत्तीस गोत्रों का वर्णन हुआ है ।

जिनसेन के पुण्याश्रव पुराण में आचार्य भद्रबाहु और सम्राट चन्द्रगुप्त

की दक्षिण यात्रा का विस्तृत वर्णन किया है । यहीं श्रवणबेलगोला में बारह वर्ष की उल्लेखना पूर्वक दोनों की समाधि हुई और चारित्रिक शिथिलता के कारण श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्थापना हुई । बलमी नगर के राजा के साथ वप्रपादन की शिष्या का सम्बन्ध हुआ । उससे जाकळदेवी नामक कन्या हुई जो श्वेताम्बर थी । उसका सम्बन्ध कोल्हापुर के राजा भूपाल के साथ हुआ पर उसका प्रभाव राजा पर नहीं पडा । भूपाल ने दिगम्बर आचार्यों का ही सत्कार किया ।

शिशुनागवंशी श्रेणिक विम्बिसार का भी उल्लेख हुआ है । श्रेणिक की पत्नी चेलना चेटक राजा की कन्या थी । जो तीर्थंकर महावीर की मौसी थी।

मध्ययुग आपत्तियों से भरा रहा है । विशालकीर्ति की धर्मपरीक्षा में मुस्लिम सम्प्रदाय द्वारा दी गई आपत्तियों का अच्छा जिक्र हुआ है । पद्मपुराण और श्रेणिकचरित्र में बर्बर और म्लेच्छों का वर्णन हुआ है । जिनसागर ने निर्दोष सप्तमी व्रत कथा में, मेघराज ने जसोधररास में और गुणकीर्ति ने पद्मपुराण में भी इसी तरह की यातनाओं का विवरण दिया है।

डॉ. सुभाष अक्कोले ने प्राचीन मराठी जैन साहित्य में उल्लिखित नगर, तीर्थ, समाज रचना, संस्कार, उद्योगधंधे, पंथ आदि का भी उल्लेख किया है । तदनुसार कारंजा, नागपुर, वासिम, आकोट, अमरावती, देउलगांव, मानवत (माननगर), नंदीपुर (नांदगांव), जैसिंगपेठ (जयसिंग नगर), जिंतूर, औरंगाबाद, देवगिरि, करवीर–कोल्हापुर, नांदणी, बडगांव, कागल आदि नगर ऐसे थे जहां जैनाचार्यों ने मन्दिरों में रहकर अपनी साहित्यिक रचनाएं की थीं । इसी तरह तीर्थक्षेत्रों में अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ (शिरपुर), कंचनेर, पैठण, शिरडशहापुर (परभणी), मलखेड, श्रवणबेलगोला, होंबुस, पोदनपुर, प्रयाग, गोपाचल, कुलपाक, अंकलेश्वर, ईडर, चित्तोडगढ आदि का उल्लेख हुआ है ।

४) सामाजिक सन्दर्भ

पन्द्रहवीं से अठारहवीं शताब्दी की सामाजिक संरचना का भी चित्रण मराठी जैन साहित्य के आधार पर किया जा सकता है । साधारण तौर पर जैन

समाज व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता रहा है । दक्षिण भारत में जैनों को प्रारंभ में पंचम कहा जाता था जो ब्राह्मणेतर समाज का सूचक शब्द था । बाद में भट्टारकों ने उन्हें प्रादेशिक आधार देकर चतुर्थ, सेतवाल, कासार, कलार, बोगार आदि अनेक नाम दे दिये । इन जातियों में कासार और कलार जाति ऐसी जातियां है जो जैनों से बाहर हो गईं । ये जातियां शायद वे रही है जिन्हें जैनाचार्यों ने परिवर्तित तो किया पर जैन समाज उन्हें अपना नहीं सका । महाराष्ट्र में इनकी संख्या बहुत है । जैन समाज ने अब प्रयत्न करना शुरु किया है उन्हें अपने परिवार में लाने के लिए । कासार जाति का आधा–सा भाग आज भी जैनधर्म का पालन कर रहा है।

दक्षिण में विशेषतः महाराष्ट्र में सेतवाल समाज बड़ी संख्या में है। उनका इतिहास लगभग 15–16 वीं शती से मिलता है । वे दिगम्बर धर्म के पक्के अनुयायी, चरित्रनिष्ठ और कृषक हैं । इनमें अनेक प्रतिष्ठत विद्वान आचार्य हुए हैं । कहा जाता है, तीर्थ क्षेत्रों के रक्षणार्थ यह क्षत्रिय जाति उत्तर से दक्षिण में आयी । क्षेत्रयाल का ही अपभ्रंश रूप सेतवाल है । कृषक होने के कारण भी उन्हें सेतवाल कहा जाता है ।

सेतवाल उपजाति में 84 गोत्र माने गये हैं – बाहु, अभयकुमार, सहस्रबाहु, मधव, विजयमित्र, महाबाहु, भूबल्लभ, हरिकेतु, विजय, धनपति, सिंहारथ, विद्याशक्ति, सुप्रतष्ठि, मेघवाहन, पृथ्वीपाल, वज्रदन्त, रत्नायुध, अनन्तविजय, धर्म, प्रज्ञापाल, युगन्धर, लोकपाल, हरिश्चन्द्र, सूर्यपुत्र, यशपाल, मीनकेतु, सुरेन्द्रदत्त, पुण्डरीक, धनरथ, धात्रवाहन, सुमैया, शुभचन्द्र, पूर्वबाहु, मणिमाल, जितशत्रु, वज्रायुघ, सत्यश्रुति, जयन्धर, नमेदा, विमलवाहन, सुरकीर्ति, विमलकीर्ति, श्रीषेण और चक्रायुध । परस्पर में उपनामों के अनुसार इनमें विवाह होता रहता है । विधवा विवाह भी प्रचलित है । सेतवाल में भट्टारक भी हुए हैं। लातूर के विशालकीर्ति इन्ही में से है ।

दक्षिण में दूसरी दिगम्बर जाति चतुर्थ है जो संख्या में लगभग डेढ लाख है । बंबई और कर्नाटक में इनकी अवस्थिति अधिक है । दक्षिण में जैन

ब्राह्मण, जैन क्षत्रिय, जैन वैश्य और जैन शूद्र होते हैं । चतुर्थ का सम्बन्ध जैन शूद्र से रहा है । यह जाति कृषक अधिक है । विधवा विवाह भी इस जाति में होता है । नान्दिणी (कोल्हापुर) में इसी जाति से जिनसेन नाम के भट्टारक होते रहे हैं ।

तीसरी दक्षिणी जैन जाति है पंचम । इसे कदचित् ब्राह्मण वर्ग ने यहाँ के जैन समुदाय को चतुर्वर्ण से बाहर रखने की दृष्टि से यह नाम दिया था लगभग 15 वीं शती में । इसी में से 16 वीं शती में चतुर्थ, शेतवाल और बोगरा जैसी जातियों का उद्‌भव हुआ । इस जाति में भी विधवा विवाह होता है । इसे निम्मतम कोटि की जैन जाति मानी जाती है। इसी निम्नता से बचने के लिए इसमें से कुछ लोगों ने वीरशैव सम्प्रदाय ग्रहण कर लिया और वे पंचमशाली लिंगायत कहे जाने लगे । इनके दो विभाग है श्रावक और पुजारी वर्ग । पुजारी वर्ग को 'जंगम' कहा जाता है जो विरक्त (अविवाहित) तथा गुरुस्थल (विवाहित) होते हैं । लिंगायतों के 31 वर्गो में एक वर्ग पंचमशीली भी है । इससें भी विधवा विवाह प्रचलित है । लक्ष्मीसेन भट्टारक (कोल्हापुर) इसी जाति में से हैं । सेतवाल और चतुर्थ की अपेक्षा पंचम की आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी है। इनमें अच्छे जौहरी और व्यापारी हैं ।

चौथी दक्षिणी जैन जाति है बोगार जिसे कासा कहा जाता है । यह जाति तांबे के बर्तनों का व्यापार अधिक करती रही है । इसमें कुछ लोक कालिका को अपनी कुलदेवी मानते हैं । हिन्दुकासार को त्वष्टा कासार कहा जाता है । इसमें विधवा विवाह और बहुपत्नी प्रथा है । 17वीं शताब्दी मे इस जाति का उदय हुआ है । मालखेड इसका केन्द्र है ।

दक्षिण में एक और जाति है उपाध्याय जो मंदिरों में पूजा का काम करती है । मंदिरों में अर्पित द्रव्य का उपयोग भी उसे वर्ज्य नहीं है । ग्रामोपाध्याय, धर्माधिकारी जैसे वर्ग इसी जाति में से है । उपाध्याय ही उपाध्ये हो गया ।

दक्षिण में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का मूलतः कोई विशेष अस्तित्व नहीं रहा है ।

इस काल में जैन समाज में वैदिक समाज के आधार पर अस्पृश्यता की विचारधारा घर कर चुकी थी । मांसाहार पूरी तरह से वर्जित रहा है । भोजनपात्र से शूद्र का स्पर्श दोषास्पद माना जाता था ।

समाज में लोकसंघ चलाने की प्रथा थी । ऐसे दानी लोगों को 'संघई' या 'सिंधी' जैसी मानद उपाधियों से अलंकृत किया जाता था । तीर्थयात्रा कराने वाले को संघपति कहा जाता था । जिन मन्दिरों में पंच कल्याणक के रूप में महापूजा होती थी । बाद में चित्रपोथी, सुवर्णशलाका, पुस्तकें आदि भेंट में दी जाती थीं ।

जैन समाज कृषि प्रधान था । वह व्यापार भी करता था । अन्य वर्गों में कासार, तांबटगार, लोहार, पाथरट, सीसगार, बोगाट, मणियार, जोगी, जोहरी, बंजार आदि वर्ग प्रमुख थे । मगर, तगर जैसे छोटे–छोटे व्यापारी वर्ग भी थे । वोगार वर्ग में से कुछ लोगों ने लिंगायत धर्म स्वीकार कर लिया था । लिंगायत वाणी को कानडे वाणी कहा जाता था । जैन ग्रन्थों में उसे 'कपडी जंगम' कहा गया है । जैन वर्ग में लोह, विष, लाख, पान, धावडी, कुसुंमा, मोह, मेण, तीव, चोरोळी आदि का व्यापार वर्जित था। विश्वस्त व्यापारी वर्ग को 'नानावटी' कहा जाता था ।

जैन समाज में लगभग सभी वैदिक संस्कार प्रचलित थे । उनका जैनीकरण हो चुका था । जन्म, नामकरण, विवाह आदि संस्कार सुरीत्या हुआ करते थे । इनका वर्णन हरिवंशपुराण में आया है । मंगलाष्टक, सरस्वती नमस्कार, नानाविधि विद्यान, श्रीमंडपशोभा, जिनकीर्तन, बधू–हेमार्पण, बधुश्रृंगा–रार्पण आदि पूर्वक विवाह हुआ करता था । चार दिन तक यह लग्नोत्सक चलता था । नुपुर, सुरंग शेला, चोली, कंठी, मुखी तांबूल, कुण्डल, मुक्ताफल, काजल, आदि से महिलाएं विभूषित होती थी । पुरुष वर्ग लुगडी, कमर बंध, डगली, निसतानी, एकत्ताई, मुंडासा, आंगि, कडिबंध, उत्तरासन, तंडप, पासोडी आदि वस्त्रों से अलंकृत होता था । महाराष्ट्री और गुजराती वर्गों की अलग अलग पहचान थी । दोनों वर्ग कभी कभी मिलजुलकर सामाजिक उत्सवों में

सम्मिलित होते थे । बालकों को भी , बिंदली, वाक्या, माला, काजल, टोपी, मुकुट, पिंपळपान, मोहनमाळ, करदोडा, कुंडल, पैंजण आदि से सजाया जाता था । तरह तरह के खेल, नृत्य, नाटक आदि से समाज का मनोरंजन किया जाता था ।

आचार्य परम्परा

महावीर निर्वाण के बाद 683 वर्ष वाली आचार्य परम्परा का उल्लेख आदिपुराण में भट्टारक जिनसेन ने किया है । उत्तरकाल में इसी का स्थान गुरुपरम्परा ने ले लिया । मध्ययुग में भट्टारक परम्परा का सूत्रपात हुआ । शंकराचार्य की मठ परम्परा का अनुकरण करते हुए जैन संघ में भट्टारक पीठों का निर्माण हुआ । जगह–जगह उनकी गद्दियां स्थापित हो गई । भट्टारकों को सिंहासनपति, तक्ताधीश, बना दिया गया। वे धर्मगुरु न होकर समाज के शासक बन गये । और फिर समाज के शासक बनने का पथ सरल भी नहीं रहता । सन् 1238 का एक उल्लेख ऐसा भी है जिसमें भट्टारक होने के विवाद में राज दरबार की ओर से आज्ञा निकालनी पडी। यह भट्टारक परम्परा दक्षिण और उत्तरभारत तथा गुजरात में पुष्पित और पल्लवित हुई । यहां हम विशेष रूप से अपने को महाराष्ट्र तक ही सीमित रखेगे ।

महाराष्ट्र दक्षिण भारत का प्रवेश द्वार है। इसका इतिहास बड़ा प्राचीन है। 'कुन्तल', 'अश्मक' और 'दक्षिणापथ' शब्द इतिहास में विश्रुत हैं जिनसे महाराष्ट्र के इतिहास का सम्बन्ध रहा है। साधारणतः सेतु से नर्मदा पर्यन्त सारा प्रदेश दक्षिणापथ कहा जाता था। सेतु का सन्दर्भ कदाचित् कृष्णा नदी से रहा होगा जो महाबलेश्वर (महाराष्ट्र) की पहाडियों से उद्भूत दक्षिण भारत की प्रसिद्ध नदी है। महाभारत (सभा. 9–10) में कृष्णवेणा का उल्लेख है पर शायद यह नदी कृष्णा नदी से भिन्न रही होगी। अतः नर्मदा और कृष्णा के मध्यवर्ती भूभाग को दक्षिणापथ कहा जा सकता है जिसमें महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा आन्ध्र प्रदेशों को अंतर्हित किया जाता है। शेष भाग सुदूर दक्षिण की सीमा में समाहित हो जाता है ।

'महाराष्ट्र' शब्द का उल्लेख प्रदेश के रूप में न तो वेदों में मिलता है और न रामायण, महाभारत में, पर इसे पुराणों तथा जैन–बौद्ध ग्रन्थों में अवश्य देखा जा सकता है। उसकी सीमा यद्यपि परिवर्तित होती रही है फिर भी विदर्भ, अपरान्त (कोंकण, विशेषतः उत्तरभाग) और दण्डकारण्य ये तीन भाग माने जाते हैं। वर्तमान महाराष्ट्र में दण्डकारण्य को छोडकर शेष दो भाग सम्मिलित हैं। चालुक्य सम्राट् सत्याश्रय पुलकेशी द्वितीय महाराष्ट्र का सार्वभौमिक राजा था। नानाघाट, भाजे, कार्ले, कन्हेरी आदि शिलालेखों में महाराष्ट्रियन पुरुषों के लिए महारठि और स्त्रियों के लिए महारठिनी शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रादेशिक विस्तार की दृष्टि से तो इसे महाराष्ट्र कहना स्वाभाविक है पर उसे महार अथवा नाग जाति से संबद्ध करने की भी प्रबल सम्भावना बन जाती है।

महाराष्ट्र में जैन कला और संस्कृति

महाराष्ट्र में जैनधर्म कदाचित् प्रारम्भिक काल से ही रहा है। कहा जाता है, इतिहास के उदयकाल में भारत में मनुष्य जाति के तीन समुदायों में से एक समुदाय दक्षिण और पूर्व के अधिकांश पर्वतीय प्रदेशों में सीमित था जो कला–कौशल और औद्योगिक क्षेत्र में विशेष प्रगतिशील था। नाग, यक्ष, वानर आदि अनेक समुदायों–कुलों में विभाजित यह समुदाय कालान्तर में विद्याधर के नाम से विश्रुत हुआ। इसी को द्रविड भी कहा जाने लगा। आदि पुरुष तीर्थंकर ऋषभदेव के एक पुत्र का नाम भी द्रविड था। सम्भव है, विद्याधर जाति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर वे विद्याधरों के साथ ही बस गये हों और उन्हीं के नाम से इस भाग को द्रविड कहा जाने लगा हो। जैन साहित्य में विद्याधर संस्कृति के बहुत उल्लेख मिलते हैं। 'महावंश' के अनुसार भी श्रीलंका में बौद्धधर्म के प्रवेश के पूर्व यक्ष संस्कृति का अस्तित्व था। 'वृहत्कथा' में विद्याधर और जैन संस्कृति का सुन्दर वर्णन मिलता है। महाराष्ट्र में सातवाहनकालीन भाजे गुफा में एक भित्ति चित्र मिला है जिसे विद्याधर से सम्बद्ध माना गया है।

312 ई. में उज्जैनी को उपराजधानी बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य ने दक्षिणापथ की विजय यात्रा सौराष्ट्र से प्रारम्भ की जहाँ उसने जूनागढ से सुदर्शन झील का निर्माण किया। गिरिनार पर्वत पर तीर्थंकर नेमिनाथ की वन्दना की और मुनियों

के आवास के लिए एक चन्द्रगुफा बनवाई। वहाँ से उसने महाराष्ट्र, तमिल और कर्नाटक प्रदेश पर आधिपत्य किया और उज्जैनी वापिस आ गया। यहीं कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु भी ससंघ पहुंचे और अपने निमित्तज्ञान से बारहवर्षीय दुर्भिक्ष की आशंका जानकर उन्होंने दक्षिण की ओर जाने का निश्चय किया। चन्द्रगुप्त भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था। दुर्भिक्ष की बात जानकर चन्द्रगुप्त ने 298 ई.पू. में भद्रबाहु से जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण कर ली और विशाखाचार्य नाम से अभिहित हुआ। सारा संघ महाराष्ट्र मार्ग से श्रवणवेलगोल पहुंच गया और संघ के नेतृत्व का भार चन्द्रगुप्त (विशाखाचार्य) पर छोड़ दिया। चन्द्रगुप्त ने दक्षिणवर्ती सारे देशों में जैनधर्म का प्रचार किया और अंत में श्रवणवेलगोल में ही संल्लेखना पूर्वक मरण किया।

इस घटना के पुरातात्त्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध नहीं होते परन्तु साहित्यिक प्रमाणों की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती । कर्णाटक और तमिल क्षेत्र में लगभग उसी काल में जैनधर्म का अस्तित्व मिलता है इसलिए इस समूची घटना को ऐतिहासिक माना जाना चाहिए। श्रीलंका में भी इसी काल में जैनधर्म के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। पाण्डुकाभय राजा (337– 307 ई.पू) ने अनुराधापुर में जोतिय आदि निर्ग्रन्थों के लिए एक चैत्य बनवाया। इसका उल्लेख 'महावंश' में आया है। वहीं गिरि नामक निर्ग्रन्थ भी रहता था।

चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की यह घटना तथा श्रीलंका में जैनधर्म का अस्तित्व इस तथ्य का पर्याप्त प्रमाण है कि महाराष्ट्र में जैनधर्म ई.पू. द्वितीय–तृतीय शती में काफी लोकप्रिय हो गया था अन्यथा ये दोनों महापुरुष इतने बडे संघ को दक्षिण में यकायक ले जाने का साहस नहीं करते। पूना के समीपवर्ती ग्राम पाले में एक प्राचीनतम गुहाभिलेख भी मिलता है जिसका प्रारंभ 'नमो अरहंतानं', से होता हैं। पूरा अभिलेख इस प्रकार है –

(1) नमो अरहंतानं कानुन (.)

(2) द भदंत इंदरखितेन लेन

(3) कारापित (.) पोढि च हाकाहि

(4) सह

ऐसा मंगलाचरण मथुरा के आयागपट्ट, जैन मूर्तिलेख व उदयगिरि के अभिलेख में भी मिलता है। इनका समय ई. प्रथम शती है। इसमें इन्द्ररक्षित का भी नाम है।

विदर्भ महाराष्ट्र का प्राचीनतम और प्रमुखतम भाग रहा है। 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में वैदर्भी कौण्डिन्य ऋषि का नाम आता है। रामायण (किष्कन्धा काण्ड), महाभारत (वन पर्व, 7. 3. 1.), हरिवंशपुराण (60.32) तथा जैन साहित्य (समवायांग, 9, 232.1; सूयगडांग चूर्णि, पृ. 240; वसुदेव हिण्डी, पृ. 80 आदि) में विदर्भ के पर्याप्त उल्लेख आते हैं। विमलसूरि के 'पउमचरिय' में विदर्भ के एक पर्वत रामगिरि का सुन्दर वर्णन मिलता है। यह रचना प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए। रामगिरि निश्चित ही रामटेक (नागपुर जिले का) है। यहां आज भी लगभग 11–12 वीं शताब्दी के जैन मन्दिर हैं। तीर्थंकर शांतिनाथ की भव्य प्रतिमा यहां विराजमान है। इस काल के कुछ प्राचीन शिलालेख भी उपलब्ध हैं। सम्भवतः इसके पूर्व का पुरातत्त्व भूगर्भ में छिपा होगा। 'पउमचरिय' में राम द्वारा रामगिरि पर चैत्य निर्माण करने का वर्णन उपलब्ध होता है। 'हरिवंश पुराण' में भी इसका वर्णन मिलता है।

कलिंग खारवेल (राज्याभिषेक 166 ई. पू.) का हाथीगुफा शिलालेख भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उसमें एक स्थान पर कहा गया है कि सातवें वर्ष में कलिंग खारवेल की वज्रगृह की रानी को मातृपद मिला–

अनुगृह–अनेकानि सतसहसानि विसजति पारे जनपदं {प्प} सतमे च वसे {पसा} सतो वजिर घर..... स मातुपदं–{कु}.....म {प} अठमे च वसे महतासेन {प्प} गोरधगिरि.....।

इसी शिलालेख को चतुर्थ पंक्ति में कहा गया है कि खारवेल की सेना कृष्णवेण (कण्हवेणा) नदी पर्यन्त पहुँची। महाभारत (9.20) में उल्लिखित कृष्णवेणा भी शायद यही कृष्णवेणा होगी। डॉ. मिराशी ने इस कृष्णवेणा की पहिचान नागपुर की समीपवर्ती कन्हान या वैनगंगा नदी से की है। वजिराघर गांव रायबहादुर हीरालाल के मत से चांदा जिले का वैरागढ होना चाहिए। पंक्ति छह में रथिक और भोजक का उल्लेख है।

इसका सम्बन्ध क्रमषः खानदेश (नासिक, अहमदनगर, पूना) एवं विदर्भ से माना जाता है। जैसा वाकाटक नरेश प्रवरसेन द्वितीय के चम्मक दानपट्ट से स्पष्ट है, भोजकट प्रदेश में विदर्भ का एलिचपुर जिला सम्मिलित रहा है। महाराष्ट्र के काफी भाग पर कलिंग का आधिपत्य रहा है, यह उपर्युक्त उल्लेखों से असंदिग्ध है।

पुरातात्त्विक सर्वेक्षण से यह पता चलता है कि महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में मध्यकाल में जैनधर्म की सुदृढ़ स्थिति थी। नागपुर, एलिचपुर, चाँदा, वर्धा, अमरावती, वाशिम, भण्डारा आदि स्थानों पर प्राचीन जैन मूर्तियाँ, अभिलेख, वास्तुशिल्प आदि पर्याप्त परिमाण में भूगर्भ से उत्खनन मे प्राप्त हुए हैं जो इस तथ्य के दिग्दर्शक हैं कि अभी भी न जाने कितनी जैन सांस्कृतिक सम्पदा जमीन के नीचे छिपी पड़ी है। यहाँ उत्खनन अभी बहुत शेष है। जो भी हुआ है, उसके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैनधर्म महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में बहुत फला–फूला है।

'पउमचरिय' में रामगिरि (रामटेक, नागपुर) में जैन मन्दिरों के बनाये जाने का उल्लेख मिलता है । हरिवंशपुराण भी इस कथन की पृष्टि करता है । पूर्व वाकाटक कालीन जैन मंदिरों के विद्यमान होने की भी संभावना है । केलकर (वर्धा) से प्राप्त ऋषभदेव की मूर्ति, पवनार (वर्धा) से प्राप्त जिन प्रस्तर प्रतिमायें, पद्मपुर (गोंदिया) से प्राप्त पार्श्वनाथ आदि तीर्थकरों की प्रतिमायें, देवटेक (चांदा) से प्राप्त मौर्यकालीन अभिलेख, सातगांव तथा मेहकर युक्त पार्श्वनाथ की दिगम्बर मूर्ति, राजनापुर, खिनखिनी (अकोला), अचलपूर, (अमरावती), मुक्तागिरि, बाजारगांव (नागपुर), भांदक आदि स्थानों से प्राप्त जैन मूर्तियां तथा अभिलेख विदर्भ में जैनधर्म के प्रचार–प्रसार के ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

नागपुर का समीपवर्ती ग्राम केलझर, लगता है, जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। यहाँ से जैन उपासक की एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। ऋषभदेव आदि की भी कुछ मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो लगभग 11 वीं शती की होनी चाहिए। नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा संचालित 1967 के उत्खनन में पवनार (वर्धा जिला) से

भी दो प्रस्तर जिन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनका समय सातवीं–आठवीं शताब्दी माना जा सकता है। पवनी (वाकाटक) राजधानी प्रवरपुर है।

भण्डारा जिले के पदमपुर गाँव में सप्तफणधारी पार्श्वनाथ मूर्ति तथा अन्य जिन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं जो उत्तर मध्यकाल की प्रतीत होती हैं। देवटेक (चाँदा से 69 मील दूर) में एक प्राचीनतम अभिलेख मिला है जिसमें अहिंसा का उपदेश दिया गया है। रायबहादुर हीरालाल ने इसे अशोक के शिलालेखों से मिलान किया है और ई. पू. तृतीय शताब्दी का ठहराया है। लिपि के आधार पर वैसे इसे कलिंग के साथ भी बैठाया जा सकता है। कलिंग का सम्बन्ध विदर्भ से रहा भी है। जनरल कनिंघम और प्रयागदत्त शुक्ल के उल्लेखों से भी पता चलता है कि चाँदा जिले में जैन मन्दिर और मूर्तियाँ प्राचीनकाल में विद्यमान थीं।

बुलढाना जिले के सातगाँव में उपलब्ध जैन मूर्तियाँ वहाँ की प्राचीनता की कथा बताती हैं। मेहकेर और रोहिणखण्ड भी इसी तरह एक अच्छे जैन केन्द्र रहे होंगे।

कारंजा (अमरावती) भी मध्यकाल का एक अच्छा जैन केन्द्र था। यहाँ का समृद्ध ग्रन्थ भण्डार इसका साक्षी है। अपभ्रंश महाकवि पुष्पदंत का सम्बन्ध इस गाँव से था। उनके अनेक ग्रन्थ यहाँ के भण्डार में उपलब्ध हुए हैं। यह स्थान बलात्कार गण का केन्द्र होना चाहिए। वैसे मलखेड मूल केन्द्र था जहाँ से उसकी दो शाखायें स्थापित हुईं–कारंजा और लातूर। इस गण के साथ सरस्वती गच्छ का विशेष सम्बन्ध रहा है। समीपवर्ती अकोला जिले के खिनखिनी ग्राम में सरस्वती की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई है जिसके शिरोभाग में जैन मूर्ति विद्यमान है। कारंजा में भी सरस्वती की मूर्ति है। यहाँ का काष्ठा शिल्प भी उल्लेखनीय है।

अकोला जिले के शिरपुर स्थित अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ का जैन मन्दिर उत्तर मध्यकाल के वास्तुशिल्प का अच्छा नमूना है। यहाँ प्राप्त एक संस्कृत शिलालेख के अनुसार इसका निर्माण सं. 1334 (ई. सन् 1412) में हुआ था। इसी जिले

के खिनखिनी गाँव के कुए से अनेक जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं जिनके लेखों के आधार पर वे लगभग नवीं शती की सिद्ध होती हैं। यहां प्राप्त ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की सरस्वती सहित सपरिकर मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। इनकी यक्ष मूर्तियाँ अपेक्षाकृत अधिक अलंकृत हैं। प्राचीन तीर्थमाला में इसे दिगम्बर सम्प्रदाय का गढ बताया गया है। अकोला के पास ही लातूर गाँव से प्राप्त एक और जैन लेख सन् 1188 का मिला है जो वर्तमान में नागपुर संग्रहालय में सुरक्षित है।

अमरावती जिले में ही एक कुडिनपुर गाँव है जिसका अधिपति महाभारत का भीम माना गया है। कालिदास ने इन्दुमती को विदर्भराज भोज की बहिन और विदर्भराज को कुण्डननरेश कहा है। हरिषेण के वृहत्कथाकोश के अनुसार यह गाँव प्राचीनकाल में जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र होना चाहिए। डॉ. दीक्षित द्वारा किये गये उत्खनन कार्य से भी यह तथ्य सामने आता है।

अचलपुर भी मध्यकाल में जैन संस्कृति का प्रख्यात केन्द्र रहा है। धनपाल ने अपनी "धम्म परिक्खा" यहीं पूरी की थी। हेमचन्द्र सूरि ने भी अचलपुर का उल्लेख करते हुए यह संकेत किया है कि यहां के निवासियों के उच्चारण में च और ल का व्यत्यय हो जाता है। आचार्य जयचन्द्रसूरि (नवीं शती) ने अपनी 'धर्मोपदेशमाला' में अचलपुर के अरिकेशरी नामक दिगम्बर जैन नरेश का उल्लेख किया है। यहां सप्तम शती का एक ताम्रपत्र भी प्राप्त हुआ है। अचलपुर के पास ही लगभग 8 मील दूर मुक्तागिरि नामक जैन सिद्ध क्षेत्र है। यद्यपि यह वर्तमान में बेतूल (म.प्र.) जिले के अन्तर्गत आता है पर यह मूलतः अचलपुर का ही भाग होना चाहिए। यह जैन ग्रंथों में मेंढागिरि, मेधागिरि आदि नामों से जाना जाता है। आज भी यहां लगभग पचास जैन मन्दिर एक रम्य पहाडी पर अवस्थित हैं।

ये विदर्भ के प्रमुख जैन नगर हैं जिनके उल्लेख जैन ग्रंथों में बहुधा उपलब्ध होते हैं। पुरातात्त्विक प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो चुका है। इनके अतिरिक्त कुट्टी, गोंदिया आदि अनेक ऐसे भाग हैं जहाँ जैन पुरातत्त्व के प्रमाण उपलब्ध हो सकते हैं। भद्रावती (चाँदा जिला) ऐसा ही नगर है जहाँ तीनों संस्कृतियों के पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यहाँ चीनी यात्री युवानच्वांग 639 ई. में पहुँचा था। उस

समय भद्रावती का राजा सोमवंशी सूर्यघोष था जिसने अनेक गुहा मन्दिरों का निर्माण कराया। प्राचीन वैदिक वास्तुशिल्प के भी उदाहरण मिलते हैं। सरोवर के किनारे जैन मन्दिर भी है जिसके आसपास जैन पुरावशेष प्राप्त हुए हैं।

चाँदवड़ या चन्द्रवट नगर का नाम भी उल्लेखनीय है जिसकी नींव यादववंशी राजा दीर्घपन्ना ने डाली थी। यहाँ 801 ई. से 1073 ई. तक यादवों का राज्य रहा। इसी की समीपवर्ती चार हजार फुट ऊँची पहाडी पर रेणुका देवी का मन्दिर है जो वस्तुतः जैन गुहामन्दिर होना चाहिए क्योंकि उसकी दीवार में तीन तीर्थकरों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं। जैन साहित्य में चांदवड का प्राचीन नाम चन्द्रादित्यपुरी मिलता है।

विदर्भ के समान अपरान्त और दक्षिणी भाग में भी जैनधर्म काफी लोकप्रिय रहा है। औरंगाबाद से 14मील दूर चरणाद्रि शैल गुफा मन्दिरों के लिए विख्यात एलौरा ग्राम है जिसे इतिहास में एलडर, इल्बलपुर अथवा एलागिरि के नाम से जाना जाता है। यहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों का वास्तुशिल्प दिखाई देता है।

इस गाँव की स्थापना इलिचपुर के राजा यदु ने आठवीं शती में की थी। एलाचार्य कुन्दकुन्द से यदि इसे सम्बद्ध माना जाये तो एलौरा का काल लगभग प्रथम शती सिद्ध हो जाता है। पर इस बीच का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं होता है। राष्ट्रकूट वंश जैनधर्म का संरक्षक रहा है। महाराष्ट्र के कुछ भाग पर भी उनका अधिकार था। उनकी एक शाखा लातूर में स्थापित हुई जो 625 ई0 में एलिचपुर (अचलपुर) में स्थानांतरित हो गई। इसका प्रथम ज्ञात शासक दन्तिवर्मन् वातापी चालुक्यों का करद सामन्त था। उसके उत्तराधिकारियों में दन्तिदुर्ग ने 742 में एलोरा पर अधिकार किया और उसे अपनी राजधानी बनाया। 'धर्मोपदेशमाला' (858 ई.) से भी ज्ञात होता है कि समयज्ञ नामक एक जैन मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलोरा के जैन मन्दिर में रुके। यहीं से दन्तिदुर्ग ने नासिक को अपने अधिकार में किया, वातापी चालुक्य का अन्त किया और कोशल, मालवा आदि देशों के राजाओं को भी पराजित किया। उसने चित्रकूटपुर के श्री बल्लभ

शहप्पदेव को भी हराया जिसका भाई वीरप्पदेव वीरसेन नाम से पंचस्तूपान्वयी मुनि के रूप में प्रसिद्ध हुए। वे राष्ट्रकूट राजधानी के ही समीपवर्ती वाटनगर में आ बसे और वहीं के चन्द्रप्रभु जैन मन्दिर तथा चामरलेण के गुहामन्दिरों में अपना विद्याकेन्द्र स्थापित किया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव के शासनकाल में ही उन्होंने जयधवला, महाधवला जैसे महाग्रंथों की रचना की।

एलोरा की अन्तिम गुफा कैलाश जैन गुफा है जो चरणाद्रि पर्वत के उत्तर भाग में है। उसके दो भाग उत्खनन से प्रकाश में आये हैं– इन्द्रसभा और जगन्नाथ सभा। इन्द्रसभा बारह खम्भों पर खडा दो मंजिल का एक मन्दिर है जिसे 200 फीट नीचे पर्वत काटकर बनाया गया है। इसमें दाईं ओर एक सुन्दर हाथी बना है। बरामदे में हाथी सहित इन्द्र की मूर्ति है जो वास्तुशिल्प का बेजोड़ नमूना है। कला की दृष्टि से इन्द्रसभा सर्वोत्तम भाग है। जगन्नाथ सभा इन्द्रसभा से छोटा भाग है जिसमें महावीर की मूर्ति विराजमान है। ऊपर के भाग में सोलह फुट की पार्श्वनाथ प्रतिमा है। इस गुफा में प्राप्त शिलालेखों के आधार पर इसका समय आठ से तेरहवीं शती तक ठहराया हा सकता है। 9वीं –10वीं शताब्दी के कुछ लेखों में यहाँ नागनन्दि, दीपनन्दि आचार्यों तथा उनके शिष्यों के नाम उल्लिखित हैं। यहाँ का एक अन्य लेख राष्ट्रकूट राज्यकाल के बाद का 13वीं शती का है जिसमें गुहामन्दिर निर्माता चक्रेश्वर की बडी प्रशंसा की गई है।

एलोरा पहाडी का सम्बन्ध चारणों से रहा होगा। दक्षिण में एक तिरुच्चनत्तुमलै नाम की एक और पहाडी है जिसका भी सम्बन्ध चारणों से जोड़ा गया है। ये चारण कौन होंगे? यह प्रश्न अभी भी समाधान की अपेक्षा रखता है। लगता है, दक्षिण प्रदेश विद्याधरों का स्थान रहा है। इसलिए उनको ही चारण कहा गया है। उन्हीं विद्याधरों के विविध रूप यक्ष–यक्षी, चौमुखी देवियां, गजलक्ष्मी, अम्बिका आदि के रूप में उकेरे गये हैं जो काफी परिमाण में यहाँ मिलते हैं।

दन्तिदुर्ग के बाद उसका चाचा कृष्ण प्रथम अकाल वर्ष शुभतुंग सिंहासन पर बैठा जिसने दक्षिणी कोंकण में शिलाहार सामन्तों को नियुक्त किया। उसी ने पर्वत काटकर 769 ई. में यह कैलाश मन्दिर बनवाया। राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव

की पत्नी चालुक्य राजकुमारी शीलभट्टारिका जैनधर्मावलम्बी और उच्चकोटि की कवयित्री थी। महाकवि स्वयंभू ने अपने ग्रंथों की रचना उसी के आश्रय में रहकर की। पुन्नाटवंशी जिनसेन ने भी 783 में रचे अपने हरिवंश पुराण के अन्त में ध्रुव का उल्लेख किया है। वीरसेनाचार्य के ग्रंथ भी इसी शासनकाल की देन हैं। ध्रुव के पुत्र जगत्तुंग के शासनकाल में उनकी साहित्यिक गतिविधियाँ चलती रही हैं। बाद में जगत्तुंग ने मान्यखेट (मलखेड, मैसूर) को अपनी राजधानी बनाया जो अकलंक स्वामी विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, अनन्तवीर्य आदि अनेक जैनाचार्यों का कार्यक्षेत्र रहा है पर उनके अधिकार क्षेत्र में महाराष्ट्र का भाग भी आता है। मलखेड बलात्कारगण का मुख्य केन्द्र था। इसी की दो शाखायें महाराष्ट्र में स्थापित हुईं–कारंजा और लातूर।

बलात्कारगण के प्रधान आचार्यों में कुन्दकुन्द, उमास्वामी, जटासिंहनन्दि, माघनंदि, जिनचंद, प्रभाचंद, अकलंक, माणिक्यनन्दि आदि आचार्यों का उल्लेख आता है। कारंजा शाखा के प्रथम उल्लेखनीय आचार्य अमरकीर्ति हैं। उनकी शिष्य परम्परा में विशालकीर्ति, विद्यानन्द, देवेन्द्रकीर्ति, धर्मचन्द्र, धर्मभूषण आदि आचार्य हुए हैं। ये सभी 14–15 वीं शती के आचार्य हैं। लातूर शाखा का प्रारम्भ अजितकीर्ति से हुआ जिनके गुरु कारंजा शाखा के कुमुदचन्द्र थे। इन्होंने शक सं. 1573 में एक जिनमूर्ति की स्थापना की थी।

औरंगाबाद के समीप देवगिरि की स्थापना जैनाचार्य हेमाद्रि के अनुसार यादव नरेश भिलम्मा प्रथम ने 1187 ई. में की और उसे अपनी राजधानी बनाया। मुहम्मद तुगलक ने उसे दौलताबाद नाम दिया। यहीं पास ही उसमानाबाद के नजदीक नदी के किनारे धारसिव नाम की सात गुफायें हैं जिनमें चार गुफायें जैनों की हैं। इनका समय कला की दृष्टि से लगभग सप्तम शताब्दी निर्धारित किया गया है। इसी यादवकाल में जैनाचार्य पार्श्वदेव ने 'समयसार' नामक संगीतग्रंथ लिखा। यहाँ के कूचिराज ने लक्ष्मी जिनालय का निर्माण कराया। चैत्यवन्दन में देवगिरि सुरगिरि के नाम से उल्लिखित है। परभणी भी यादवकालीन केन्द्र रहा है।

नासिक और उसके आसपास का भाग भी जैन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विख्यात है। क्षहरातवंशी महाराज नहपान कुषाणों का सूबेदार था जो बाद में उज्जैन और सौराष्ट्र का अधिपति बना तथा गौतमीपुत्र सातकर्णी पैठन का सातवाहन नरेश था। 65 ई. के आसपास गौतमीपुत्र सातकर्णी ने नहपान को युद्ध में पराजित किया। नहपान के राज्य में नानगोल {ठाणा जिला नारगोल}, गोवर्धन {नासिक का समीपवर्ती पर्वत}, त्रिरश्मि {नासिक}, जुन्नार आदि भाग सम्मिलित रहे हैं नहपान के दामाद ऋषभदत्त {द्वितीय शतक का प्रथम भाग} द्वारा लिखित एक अभिलेख नासिक में प्राप्त हुआ है जिसमें उसे नहपान का भट्टारक कहकर ससम्मान उल्लेख किया गया है। इस लेख में जैन, वैदिक आदि सभी धार्मिक तीर्थों को दान दिये जाने की बात अंकित है। नहपान के लिए भट्टारक जैसे शब्दों का प्रयोग उसके जैन होने का संकेत करता है। विवुध श्रीधर के श्रुतावतार के अनुसार नहपान ने जैन दीक्षा ली और भूतबलि के नाम से विख्यात हुए। राजश्रेष्ठि सुबुद्धि भी हुए। ये दोनों आचार्य धरसेनाचार्य के शिष्य बने और उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की।

ई. पू. प्रथम शती में आन्ध्र सातवाहन वंश का उदय हुआ। प्रतिष्ठानपुर {पैठन} उनकी राजधानी बनी। इस वंश के अधिकांश नरेश ब्राह्मण धर्मानुयायी थे पर उनमें हाल {शिमुक} की सम्भावना जैन होने की अधिक है। उनके गाहा सतसई ग्रंथ पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। इससे प्राकृत की लोकप्रियता का भी पता चलता है। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा कातन्त्र व्याकरण तथा काणमूर्ति की प्राकृतकथा के आधार पर गुणाढ्य की बृहत्कथा भी इसी के राज्यकाल में लिखी गई। हाल के 52 योद्धाओं में से अधिकांश ने पैठन में जैन मन्दिरों का निर्माण कराया। कहा जाता है, कालकाचार्य ने पैठन की यात्रा की थी और वहाँ पयुर्षण पर्व मनाया था।

नासिक के पास वजीरखेड में प्राप्त दो ताम्रपत्र उल्लेखनीय हैं। सन् 915 में राष्ट्रकूट सम्राट् इन्द्रराज ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर जैनाचार्य वर्धमान को अमोघ वसति और उरिअम्म वसति नामक जिन मन्दिरों की देखभाल के लिए कुछ गांव दान में दिये थे। अमोघ वसति से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि यह मन्दिर इन्द्रराज के प्रपितामह अमोघवर्ष की प्रेरणा से बनाया गया होगा।

यादववंशीय राजा सेडणचन्द्र का एक लेख सन् 1142 का नासिक के पास अजमेरी गुहामन्दिर में प्राप्त हुआ है। जिसमें चन्द्रप्रभु मन्दिर में प्रदत्त दान का वर्णन है। धूलिया के समीप मुलतानपुर में सन् 1154 के आसपास का लेख मिला है उसमें पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य विजयकीर्ति का नाम अंकित है।

नासिक के समीप ही लगभग 900 फीट ऊँची अंकाई–तंकाई नामक पहाडी है। वस्तुतः ये एक साथ जुडी हुई दो पहाडियां हैं। यहाँ सात जैन गुफायें हैं, बडी अलंकृत हैं। पहली गुफा पर इसमें एक बन्द बरामदा है, जिसमें इन्द्र और अम्बिका की मूर्तियां रखी हुई हैं। मन्दिर में एक जिनमूर्ति भी है। शेष दोनों गुफायें भी लगभग ऐसी हैं। तीसरी गुफा के पीछे के भाग में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ की प्रतिमायें उकेरी हुई मिलती हैं कायोत्सर्ग मुद्रा में। तीसरी गुफा के पीछे के भाग में पार्श्वनाथ और शांतिनाथ की प्रतिमायें उकेरी हुई मिलती हैं कायोत्सर्ग मुद्रा में। चौथी गुफा का तोरणद्वार अत्यन्त कलात्मक है। ये गुफायें शाहजहाँ के सेनापति खानखाना की सेना द्वारा तोड दी गयी थीं इसलिए कलात्मकता छिन्न–छिन्न हो गई है।

नासिक के ही उत्तर–पश्चिम में चामर लेण नाम की छोटी–सी पहाडी है जिसपर जैन गुफायें उपलब्ध हुई है। इनका समय लगभग सातवीं शताब्दी है। एक गुफा में पार्श्वनाथ की वृहत्काय आवक्ष प्रतिमा उल्लेखनीय है। ये गुफायें उस्मानाबाद के पास हैं।

पूना के उत्तर–पश्चिम में लगभग पच्चीस मील दूर एक वामचन्द्र स्थान है जहां जैन गुफा है। आज उसे शैव मन्दिर के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है।

बार्सी से लगभग 22 मील दूर प्राचीन जैन तीर्थक्षेत्र कुंथलगिरि एक सिद्धक्षेत्र है जहां से कुलभूषण और दिशभूषण नामक मुनि मुक्त हुए। इस पहाडी पर आदिनाथ की मूलनायक विशाल प्रतिमा है। इसका समय लगभग 12–13वीं शती निश्चित किया जा सकता है।

अर्धपुर (नांदेड़ जिला) के प्राचीन जैन मंदिर भी प्रसिद्ध रहे हैं लगभग

इसी समय के। पर अब इनके मात्र अवशेष शेष हैं। इसी जिले में एक कटहार नामक स्थान है जहां सोमदेव का बनाया हुआ अतिप्राचीन दुर्ग है। मालखेड के राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय ने इस दुर्ग का विस्तार करवाया था और कन्दहार की उपाधि ग्रहण की थी। इस दुर्ग में एक भव्य जिनालय है जिसे सोमदेव या कृष्ण तृतीय ने बनवाया होगा। जैन स्तोत्र तीर्थमाला चैत्यवंदन में जिस कुंतीविहार का उल्लेख आया है, शायद वह यही कंदहार होगा। कुछ लोग इसे नासिक के समीप गोदावरी तट पर भी अवस्थित बताते हैं जहां पाण्डुलेण आदि गुफायें हैं। नांदेड में चालुक्य नरेशों की एक शाखा राज्य करती थी। बाद में यहीं वारंगल के काकतीय राजवंश का भी शासन रहा। इसी समय का यहां एक जैन मन्दिर है।

वर्तमान कराड प्राचीनकाल का करहाटक होना चाहिए जो कृष्णा और ककुदमती के संगम पर बसा हुआ है। यहां कदम्ब वंश का शासन रहा है जो सातवाहनों का सामन्त था और बाद में स्वतन्त्र शासक के रूप में स्थापित हुआ था। करहाटक उन्हीं की राजधानी रही है। इस समूचे वंश के शासक यद्यपि सर्वधर्म समभावी रहें हैं पर अभिलेखों आदि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनधर्म के प्रति उनका विशेष झुकाव था। इन शासकों में मृगेश वर्मन (450–78ई) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उसके अनेक ताम्रपत्र और अभिलेख उपलब्ध होते हैं, जिससे उसका जैनधर्म के प्रति झुकाव सिद्ध होता है। एक ताम्रपत्र में जैनधर्म के तीन सम्प्रदायों के लिए दान देने का उल्लेख आया है–

1. तेतीस निवर्तन जमीन मातृसरित से लेकर इंगिनीसंगम तक कूर्चक सम्प्रदाय को दी।

2. कालबंगा गाँव का एक भाग श्वेतपट अर्थात् श्वेताम्बर सम्प्रदाय को दिया। और

3. उसी का दूसरा भाग दिगम्बर सम्प्रदाय को प्रदान किया। हालमणि अभिलेख भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। साधारणतौर पर यह माना जाता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अस्तित्व दक्षिण में नहीं था पर इस अभिलेख से इस भ्रम का खण्डन हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि यह भी कहा जा सकता

है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय दक्षिण में लोकप्रिय होने लगा था अन्यथा मृगेश वर्मन उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। इसी तरह के कुछ अन्य अभिलेख और साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे दक्षिण भारत में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का अस्तित्व भलीभांति सिद्ध होता है। जैसा हम जानते हैं, यापनीय सम्प्रदाय का संस्थापक श्रीकलश स्वयं समन्वित जैनधर्म का पोषक था और दक्षिणवासी था इससे इस समय को और भी पीछे लाया जा सकता है। बलभी वाचना के बाद जैनधर्म गुजरात से दक्षिण की ओर गया होगा और वैसी स्थिति में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का वहां अस्तित्व होना असंगत नहीं हो सकता।

दक्षिण का कदम्ब वंश आन्ध्र सातवाहनों का सामंत था और उसने वनवास देश में दूसरी शती के मध्य करहाटक {वर्तमान करहद} को राजधानी बनाकर शासन की स्थापना की। इस वंश के द्वितीय राजा शिवस्कंद ने अपने भाई शिवायन के साथ आचार्य समन्तभद्र से जैन दीक्षा ली। मयूरवर्मन ने हल्सी {पलासिका}को उपराजधानी बनाकर शासन किया और जैनधर्म को संरक्षण प्रदान किया। हल्सी से प्राप्त एक अभिलेख में भानुवर्मा और उसके अधीनस्थ कर्मचारी पंडर "भोजक" के दान का उल्लेख है। यह दान भानुवर्मा के बडे भाई रविवर्मा के राज्य के ग्यारहवें वर्ष में प्रत्येक पूर्णिमा के दिन जिन भगवान् की पूजा के दिन दिया गया था। यह भूमि पलासिका ग्राम के कर्दमपटी की थी (Epigraphica of India: Vol. 6, Page 27-29)। हरिवर्मा के एक लेख में कूर्चक सम्प्रदाय को दान देने का उल्लेख है और उसी में वारिषेणाचार्य संघ का भी उल्लेख है जिसके प्रधान चन्द्रक्षांत मुनि थे {वही, पेज 30–31}। हरिवर्मा के ही एक अन्य लेख में चैत्यालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। यह चैत्यालय अहरिष्टि नाम के श्रमण संघ की सम्पत्ति के रूप में मान्य था {वही, पेज 30–31}। हरिवर्मन के पूर्ववर्ती राजा काकुत्स्यवर्मन, शांतिवर्मन और रविमर्मन भी जैनधर्म के अनुयायी थे जिनके राज्य में जैनाचार्य श्रुतकीर्ति, दानकीर्ति, कुमारदत्त, हरिदत्त आदि जैसे विद्वान अभिभावक थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पलासिका {हल्सी} सौराष्ट्र की पलासनी और पश्चिमी बंगाल की पलासी नगरी से कोई भिन्न नगरी होनी चाहिए जो महाराष्ट्र और कर्नाटक की सीमा पर स्थित रही होगी ।

सांगली क्षेत्र के अन्तर्गत **तेरडाल** 11–12 वीं शती में जैनधर्म का प्रभावक केन्द्र रहा है। समीपवर्ती क्षेत्र बेलगाँव पर रट्ट शासकों का आधिपत्य था। ये शासक राष्ट्रकूटों के सामन्त थे। 875 ई. में अमोघवर्ष के सामन्त मेरद्रि के पुत्र पृथ्वीराम रट्ट ने सौदन्ती में जिनमन्दिर का निर्माण कराया था और उसके संचालन के लिए दान भी दिया था। तेरदल में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि यहाँ का मांडलिक गोंक {1187 A.D.}जैनाचार्य द्वारा सर्पदंश से मुक्त किया गया था और फलतः उसने नेमिनाथ का मंदिर बनवाया और उसके संचालनार्थ दान दिया कार्तवीर्य रट्ट शासक द्वितीय के काल में {1123 & 24 A.D.}। इस शुभावसर पर माघनन्दि सैद्धान्तिक को विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। वे कोल्हापुर के रूपनारायण वसदि के मंडलाचार्य थे। इसी वंश का कार्तवीर्य चतुर्थ शिलाहार नरेश के राज्य में स्थित एक साम्बी के नेमीश्वर जिनालय के दर्शनार्थ गया जिसे यापनीय आचार्य विजयकीर्ति के संरक्षकत्व में शिलाहार सेनापति कालन ने अपने गुरु कुमारकीर्ति त्रैविद्य के उपदेश से बनवाया था। कार्तवीर्य चतुर्थ के मंत्री एवं सेनापति बूचिराज और मल्लिकार्जुन भी जैनधर्मावलम्बी थे। बूचिराज ने बेनगांव में रट्ट जिनालय भी बनवाया और मल्लिकार्जुन के पुत्र केशीराज ने सौंदन्ती में मल्लिकार्जुन जिनालय बनवाया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि मुनि चन्द्रदेव इस राजा के धर्मगुरु और उसके युवराज के शिक्षक थे। उन्होंने संकटकाल में प्रधानमंत्री का पदभार सम्भाला और शस्त्र भी उठाये शत्रुदमन के लिए। बाद में उन्होंने कोट्टलिंग में मन्दिर बनवाये और फिर जिन दीक्षा धारण की।

कोंकण के शिलाहारों का **बेलगांव और कोल्हापुर** में शासन था। उनमें से प्रसिद्ध जैन राजा गण्डरादित्य ने कुडी में एक जिनालय बनवाया। उसका निम्बदेव देवरस नामक सेनापति आजुरिका (वर्तमान आजेर) में पद्मावती का भक्त था और माणिक्यनन्दि का शिष्य था। उसने अनेक ग्रामदान दिये। उसके सेनापति बोप्पण कालन व लक्ष्मीधर भी परम जैनभक्त थे जिन्होंने अनेक जैन मंन्दिर बनवाये। भोज द्वितीय (1165–1205 A.D.) भी जैन था। विशालकीर्ति पण्डित देव उसके गुरु थे। इसी के शासन काल में सोमदेव ने 1205 A.D. में

शब्दार्णवचन्द्रिका नामक टीका गण्डरादित्य द्वारा निर्मित आजुरिका ग्राम के त्रिभुवन तिलक नेमि जिनालय में पूरी की थी।

इसी राजा ने राजधानी **क्षुल्लकपुर** (कोल्हापुर) में अनेक जिनालय बनवाये (J.B.B.R.A.S.Vol. VIII old series p-p.1.) सेनापति बोप्पण के सन्दर्भ में किदारपुर शिलालेख एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। रूपनारायण जिन मन्दिर कुन्दकुन्द आम्नायी सरस्वती गच्छी निम्बदेव ने ही बनवाया था और उसी ने 1135 A. D. में कवडे गोल्ला में पार्श्वनाथ मन्दिर का भी निर्माण कराया था। गण्डरादित्य का ही दूसरा नाम रूपनारायण था। इसी मन्दिर में उत्कीर्ण शिलालेख में एक चैत्यागार का उल्लेख है। अय्याबोडे (बीजापुर का अइहाल) के व्यापारी वीर वणअमस ने उस मन्दिर के लिए काफी दान दिया (Ep. Ind. Vol. XIX pp.30) सांगली के पास तेरदल में प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि निम्बदेव ने रूपनारायण मन्दिर के लिए बड़ी भारी सम्पत्ति दान दी थी। (Ind. Ant. Vol. XIV p. 19; Ep. Ind. Vol. 3 pp. 207)

चालुक्य सामंत शिलाहार वंश के राजा गण्डरादित्य द्वारा कोल्हापुर अभिलेख के अनुसार उसके सामंत नोलम्ब को सन् 1115 में दो ग्राम दिये गये थे। इसमें नोलम्ब को 'सम्यक्त्व रत्नाकर' तथा 'पझावती देवीलब्ध वर प्रसाद' जैसे विशेषणों से सम्मानित किया गया। (Epi. Ind. Vol. 19 Page 30) इससे लोलम्ब का जैन होना असंदिग्ध हैं । कोल्हापुर के ही सन् 1135 के एक अन्य लेख में राजा गण्डरादित्य के सामंत निम्बदेव द्वारा ही एक जैन मन्दिर के निर्माण का तथा वीरवलंज लोगों के संघ द्वारा आचार्य श्रुतकीर्ति को दान दिये जाने का वर्णन है। कोल्हापुर के महालक्ष्मी मन्दिर में प्राप्त एक लेख में भी सामंत निम्बदेव के जिनमन्दिर निर्माण का उल्लेख मिलता है जिसे माघनंदि ने बनवाया था। (Epi. Ind. Vol. 27 Page 176)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह मन्दिर आज वैष्णव के अधिकार में है।

शुक्रवार गेट के पास ही एक दूसरा अभिलेख 1143 का मिला है जिसमें हाविशहेरिडिगे (आधुनिक हेरले) में निर्मापित जैन मन्दिर के लिए वासुदेव द्वारा

प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह वासुदेव माघनन्दि विजयादित्य का शिष्य और गण्डरादित्य का पुत्र था। माघनन्दि सैद्धान्तिक अगाध पांडित्य के धनी थे। {तिरडाल, शिलालेख, Ep. karnatica Vol. 14, Page 23) श्रवणवेलगोल शिलालेख में भी उनका उल्लेख मिलता है (Epi. karnatica, Vol. 11 Page 17.) श्रुतकीर्ति, त्रैविद्य, गण्डविमुक्तदेव, माणिक्यनंदि, पण्डित अरहनन्दी सिद्धान्तदेव, निम्बदेव, कामदेव, केदारनाकरस, आदि जैसे विद्वान् मुनि और श्रावक उनके शिष्य थे। (Epi. Ind. Vol. 111. Page 207)। उन्होंने कोल्हापुर में तीर्थ की स्थापना की थी। मठ भी बनवाया था। रूपनारायण मन्दिर की देखभाल के लिए उन्होंने श्रुतकीर्ति त्रैविद्य को नियुक्त किया था। कवडंगोल मन्दिर भी इन्हीं के संरक्षकत्व में व्यवस्थित थे। माणिक्यनंदि भी माघनन्दि के शिष्य थे। अरहनंदि के सन्दर्भ में वामणी {कोल्हापुर} पार्श्वनाथ मन्दिर में प्राप्त अभिलेख से जानकारी मिलती है (Epi. Ind. Vol. 111 pp. 211) कि यहाँ का चौधरे कामबावुण्ड द्वारा निर्मित जैन मन्दिर भी उल्लेखनीय है। नामगादेवी के आग्रह पर ? मेमगावुण्ड ने तीर्थंकर चन्द्रप्रभ मन्दिर हाविश हेरिडिगे ने 1118 A. D. में बनवाया।

बेलगांव में प्राप्त दो अन्य लेखों के अनुसार रट्टवंश के कार्तवीर्य चतुर्थ तथा उनके बन्धु मल्लिकार्जुन ने एवं उनके मन्त्री बीचण ने एक रट्ट जिनालय स्थापित किया था। उन्होंने इस मन्दिर के प्रधान भट्टारक शुभचन्द्र को शक सं0 1127 में कुछ भूमिदान किया था। (Epi. Ind. Vol. 13 p. 15)। ये शुभचंद्र मूलसंघ के पुस्तक गच्छीय मलधारिदेव के शिष्य नेमिचंद्र के शिष्य थे। बेलगांव के हल्सी गांव में प्राप्त लेख के अनुसार कदम्ब यवराज काकुतस्थ वर्मा द्वारा श्रुतकीर्ति सेनापति को प्रदत्त दान का उल्लेख है। यह दान खेटग्राम में किया गया था। फ्लीट ने इसका समय पांचवीं शती निर्धारित किया है (Epi. Ind. Vol-VI. P. 22-24) ।

मध्यकाल के पूर्व भी **कोल्हापुर** जैन सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विख्यात रहा है। सम्राट् खारवेल के बाद दक्षिणापथ में पैठन के सातवाहनों का उत्कर्ष हुआ जो द्वितीय शती तक अवस्थित रहा। इस बीच मूलसंघ के पटधर आचार्य अर्हद्बली (38-66 A.D.) ने वेण्या नदी के तट पर स्थित महिमानगरी (महिमानगढ़) में एक

विशाल जैन सम्मेलन का आयोजन किया और आवश्यकता प्रतीत होने पर संघ को नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पंचस्तूप, सेन, भद्र, गुणधर, सिंह, चंद्र आदि विविध नामों से संघ स्थापित किये (इन्द्रनंदि, श्रुतावतार, 91–96) । इन संघों की स्थापना के पीछे धर्म वात्सल्य, एकता और प्रभावना की अभिवृद्धि मुख्य उद्देश्य था।

कोल्हापुर (अल्तमपुर) में प्राप्त एक अन्य दान पत्र के अनुसार मूलसंघ काकोपल आम्नायी सिंहनंदि मुनि को अलक्तकनगर के जैनमंदिर के लिए कुछ ग्रामदान दिये गये हैं। दान देने वाले थे पुलकेशी प्रथम के सामन्त सामियार जिन्होंने अनेक जैन मंदिरों की प्रतिष्ठा कराई थी और गंगराजा माधव द्वितीय तथा अविनीत ने कुछ ग्रामादि दान में दिये थे।

11–12वीं शती के चिक हुलसोगे के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वहां मूलसंघ का देशीगण भी काफी लोकप्रिय था। इसके दिवाकरनंदि, चन्द्रकीति, पूर्णचंद्र, दामनंदि, तपकीर्ति आदि आचार्य कोल्हापुर के आस–पास ही रहते थे। यहाँ अनेक जैन वसदियां थीं जिन्हें कंगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त था। देशी गण का प्रमुख गच्छ पुस्तकगच्छ है। हनसोगेवलि पुस्तकगच्छ का ही एक उपभेद है। इस गण की एक शाखा का नाम इंगुलेश्वरधलि है जिसके आचार्यगण प्रायः कोल्हापुर के आस–पास रहते थे (Ep, Kar. Vol. V111 & IX ; जैन शिलालेख संग्रह,भाग 2, पृ. 356–58)। यापनीय संघ भी कोल्हापुर, बेलगांव आदि समीपवर्ती स्थानों में लोकप्रिय था। यह बेलगांव स्थित दोड्डवसदि जैन मन्दिर में प्राप्त एक अभिलेख से प्रमाणित होता है। मलखेड़ के पास नगई (गुलवर्ग) में भी प्रसिद्ध दिगम्बर जैन मन्दिर है जो कदाचित् बलात्कारगण का केन्द्र रहा होगा।

शोलापुर से लगभग 200 कि.मी. दूर स्थित **बादामी** (प्राचीन नाम वातापी) का उदय पश्चिमी चालुक्य वंश के रूप में पंचम शताब्दी में हुआ। इसका सम्बन्ध विजयादित्य चालुक्य से रहा। उसी के वंश में उत्पन्न दुर्विनीत ने जयसिंह के माध्यम से वातापी साम्राज्य की नींव डाली। इसका वास्तविक राज्य संस्थापक पुलकेशी प्रथम था जो जैनधर्म का कट्टरभक्त था। उसके सामन्त और सहयोगी भी जैनधर्मावलम्बी थे। उसने 542 ई. में अलक्तकनगर में एक जिनालय वनवाया जिसमें उत्कीर्ण

शिलालेख में कनकोपल शाखा के जैनाचार्य सिंहनंदि, चित्तकाचार्य, नागदेव और जिननंदि के नामों का उल्लेख है। ऐहोल भी इस काल का प्रमुख जैन केन्द्र रहा है। इसी वंश के कीर्तिवर्मन् प्रथम (565–587 A.D. ने जैनमन्दिर में अभिषेकादि के लिए विपुल दान दिया था। इसी के राज्यकाल में 585 ई. में जैनाचार्य रविकीर्ति ने ऐहोल के पास मेंगुली में एक जैन मन्दिर बनवाया था और जैन विद्यापीठ की स्थापना की थी। शायद इसी के शासनकाल में अलक्तक नगर में चालुक्यों के लघुहव्व नामक उपराजा की पत्नी ने प्रकाण्ड जैन दार्शनिक भट अकलंक को जन्म दिया। बादामी की प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण भी इसी समय हुआ। प्रौढ़ संस्कृत में लिखी रविकीर्ति की प्रशस्ति निश्चित ही संस्कृत साहित्य की अनुपम देन है। अकलंक देवसंघ के आचार्य थे और विक्रमादित्य साहसतुंग के गुरु थे। इसी वंश के विजयादित्य द्वितीय (697–733 ई.) के शिलालेख में जैन तीर्थ क्षेत्र कोप्पण का उल्लेख है। आचार्य अकलंक के सधर्मा पुष्पसेन और उनके शिष्य विमलचन्द्र तथा कुमारनंदि और अकलंक के प्रथम टीकाकार वृहत् अनन्तवीर्य भी इसी राजा के आश्रय काल में रहे हैं। इसी राजा ने शंखजिनालय पुलिगेरे जैन मंदिर आदि के लिए भी पुष्कल दान दिया। यह वंश जैनधर्म का संरक्षक सा रहा है।

कल्याण के चालुक्य सम्राट भुवनैकमल्ल का 1071 ई. का एक शिलालेख नान्देड़ के पास **तड़खेल** ग्राम में मिला है जिसके अनुसार सेनापति कालिमप्प तथा नागवर्मा ने निकलंक जिनालय को भूमि, उद्यान आदि अर्पित किये थे। उसी वंश के सम्राट त्रिभुवनमल्ल के समय (1078 ई.) का एक अभिलेख सोलापुर के समीप अक्कलकोट में मिला है जिसमें जैनमठ के लिए भूमिदान देने का उल्लेख है। चालुक्यों के प्रतिस्पर्धी मालवा के परमार वंशीय राजा भोज के सामन्त यशोवर्धन द्वारा कल्कलेश्वर के जिनमन्दिर के प्रदत्त दान का वर्णन कल्याण (बम्बई के पास) में प्राप्त एक ताम्रशासन में मिलता है।

अन्त में कुछ और जैन पुरातत्त्व क्षेत्रों का उल्लेख कर देना आवश्यक समझता हूं जिनकी जानकारी अभी–अभी मिली है।

राजनापुर खिनखिली (अकोला) के एक कुंए में से सन् 1926 में 27 जैन प्रतिमायें मिली हैं जो आज नागपुर संग्रहालय में रखी हुई हैं। कदाचित् अलाउद्दीन खिलजी के विदर्भ आक्रमण के समय इन्हें अविनय के भय से समाज ने कुएं में डाल दिया होगा।

कालक्रम की दृष्टि से इन्हें समूह में विभाजित कर उनका अध्ययन किया जा सकता है– प्रथम समूह (7–8वीं शती) में अम्बिका की दो प्रतिमायें हैं– एक बैठी हुई और दूसरी खड़ी हुई। एक ललितासन में और दूसरी विमंग मुद्रा में। (आम्रलुम्बि और शुभंकर–प्रियंकर पुत्रों के साथ मस्तक पर नेमिनाथ की मूर्ति है) द्वितीय समूह (9वीं शती) में पांच प्रतिमायें है प्रौढ़ शैली और कुशलता पूर्ण कारीगरी से युक्त। दो चतुर्विंशति पट्ट, एक अम्बिका, एक सरस्वती और एक यक्ष। चतुर्विंशति पट्ट में मूल नायक आदिनाथ भगवान हैं, केशजटा, श्रीवत्स, अर्धनिमीलित दृष्टि, गले में तीन रेखायें (कम्बुग्रीव योजना), दोनों ओर सौधमेन्द्र चमर डोलते हुए, गोमुख, चक्रेश्वरी, चौकी पर नवग्रह। अम्बिका का केशगुन्थन दर्शनीय है। सरस्वती प्रतिमा तो अनुपम है सुघड़ और सजीव–सी ललितासन में, हाथों में पोथी और वर्तिका लिए, आंखों पर चांदी का मुलम्मा। लेख से पूर्णवसदि में प्रतिष्ठापित होने की सूचना भी मिलती है बिना किसी अलंकार के भावानात्मक सौन्दर्य लिये।

तृतीय समूह (11–13 वीं शती) में सात प्रतिमायें है और चतुर्थ समूह में शेष आदिनाथ नेमिनाथ की प्रतिमायें द्विमूर्ति और सर्वतोभद्र प्रतिमायें, पंचमेरू और गायवत्स।

मासल – भण्डारा जिले में पवनी से लगभग 15 कि. मी. दूर एक छोटा सा गांव है। वहां मोतीराम भागभणारकर नामक एक मछेरे के आंगन में लगभग 50 वर्षों से तीन जैन मूर्तियां पड़ी हुई हैं काले पाषाण की। इन तीन मूर्तियों में दो खड्गासन और एक पद्मासन में है। पद्मासनस्थ मूर्ति में श्रीवत्स, ग्रीवा, त्रिवली, नासाग्रदृष्टि, मुख पर परमशांति और वैराग्य भाव, कुन्तलित केश, कमल चिन्ह आदि सभी कुछ कलात्मक ढंग से उत्कीर्ण है।

शेष दो मूर्तियों में सिंहयुगल, त्रिछत्र, श्रीवत्स मत्स्य चिन्ह हैं। ये मल्लिनाथ की मूर्तियां हैं। गजलक्ष्मी आदि अन्य परिकर भी अंकित है। यहां के ग्रामवासी इन प्रतिमाओं को श्रषिमुनि और उघडा (नंगा) देव कहते हैं।

मासल के आसपास तेलोता, खैरी, निपानी, पिंपला गांव भिवापुर, चांडला, सातमौकी, कोरंभी आदि स्थान भी जैन पुरातत्त्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

कोप्पल – कोप्पल फलीट के अनुसार कोल्हापुर से 20 कि.मी. दूर खिद्रापुर है जो कृष्णानदी तट पर स्थित है। पर अन्य विद्वान इसे हिरेतल्ल नदी के वायें तट पर वसा कोप्पल मानते हैं। चामुण्डारायपुराण के अनुसार यहां 772 जैन मंदिर थे। यहां समीप में अशोक के शिलालेख भी मिले हैं। मस्की और इर्रागुड्डी में प्राप्त यहां के पुरातत्व ई. पू. उसी शती तक पहुंचा देता है।

यहां प्राप्त 20 शिलालेख संस्कृत और कन्नड में हैं। जो जैन इतिहास और पुरातत्व की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यहां समीपस्थ चन्द्रवण्डी, पल्किगुड्डी आदि पहाड़ियों पर प्राप्त शिलालेख और मूर्तिलेख यहां की 10 वीं शती के जैन पुरातत्त्व की कहानी कहते हैं। उनका सम्बन्ध चालुक्य नरेशों से अधिक रहा है। इनमें सर्वनन्दी, मघनन्दी, कल्याणकीर्ति आदि का वर्णन है। यह संघ मूल संघीय देशी गण से सम्बद्ध था।

इस प्रकार महाराष्ट्र में जैनधर्म ई. पू. तृतीय–चतुर्थ शती से लेकर मध्यमयुग तक अविकल रूप से लोकप्रिय रहा है। जैन कला और साहित्य के विविध आयाम इस कालखण्ड में दिखाई देते हैं। एलोरा की गुफाओं की कलात्मकता और व्यापकता इतिहास की अनुपम देन है। अनेक गण–गच्छों की स्थापना और उनके विकास का श्रेय भी महाराष्ट्र को जाता है। जैनाचार्यों का भी यह कर्मक्षेत्र रहा है। भट्टारक सम्प्रदाय का भी विकास यहां उल्लेखनीय है। मध्ययुग में ही यहां ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना और भित्ति चित्रों की संरचना हुई है। शैव, वैष्णव और लिंगायत सम्प्रदायों के हिंसक व्यवहार से यद्यपि महाराष्ट्र में जैनधर्म को अनेक घातक संघात सहने पड़े हैं, फिर भी उसके अस्तित्व को समाप्त नहीं किया जा सका। मुसलिम आक्रमण भी उत्तरकाल में उस पर हुए, फिर भी वह अपने अस्तित्व को बचाए रखने में सक्षम रहा।

मराठी के विकास में प्राकृत का योगदान बहुत अधिक रहा है। मराठी साहित्य का भी प्रारम्भ जैन कवियों से हुआ है। उन्होंने 1661 ई. से इस क्षेत्र में अधिक कार्य किया है। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिराज, गुणनंदि, पुष्पसागर, महीचन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्रकीर्ति, कलप्पा, भरमाप्पन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी में साहित्य तैयार किया है। यह साहित्य अधिकांश रूप में अनुदित दिखाई देता है।

जनजातियों के सर्वेक्षण से पता चलता है कि महाराष्ट्र में उनके बीच जैनधर्म काफी लोकप्रिय रहा है। जैन कलार, कासार आदि कुछ ऐसी जनजातियां यहां हैं जो एक समय जैनधर्म में परिवर्तित हुई थीं। पर कदाचित् उन्हें ढंग से अपनाया नहीं जा सका और फलतः वे वैदिक धर्म की ओर पुनः झुक गईं। यद्यपि उनके आचार–विचार में आज भी जैनधर्म की झलक दिखाई देती है फिर भी हम उन्हें जैन कहने में संकोच करते हैं। यदि इन जनजातियों के बीच जैनधर्म का चिराग जलता रहता और वे एक जैन जाति के रूप में स्वीकार कर लिये जाते तो संख्या पर काफी असर होता। साथ ही उनका जीवनस्तर भी बढ़ जाता।

महाराष्ट्र में जैन समाज विदर्भ, मराठवाड़ा, पश्चिम महाराष्ट्र और दक्षिण महाराष्ट्र में बंटा हुआ है। वर्तमान में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय संयुक्त रूप से महाराष्ट्री संस्कृति के अंग बन गये हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय यहां का मूल सम्प्रदाय दिखाई देता है। केलकर के महाराष्ट्री जीवन ग्रन्थ से भी यह तथ्य उद्घाटित होता है। ग्रामीण भाग में उनकी संख्या अधिक है। कृषि और व्यापार उनके प्रमुख व्यवसाय हैं। वैदिक संस्कृति से मिलता–जुलता उनका आचार हो गया है फिर भी वे सांस्कृतिक धरोहर को सम्हाले हुए हैं अतः उनकी स्वतंत्र पहिचान भी बनी हुई है। ज्ञानेश्वरी तथा महानुभाव साहित्य में जैनों का ससम्मान उल्लेख हुआ है। मराठी सन्तों पर जैनधर्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। 2001 की जनसंख्या के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र में जैनों की संख्या सभी प्रदेशों से अधिक है। लगभग दस लाख जैन यहां है। प्रतिशत की दृष्टि से भी महाराष्ट्र में जैनों की

संख्या सभी प्रदेशों से अधिक है। लगभग दस लाख जैन यहां है। प्रतिशत् की दृष्टि से 29.42 प्रतिशत् जैन संख्या है। बम्बई, बेलगांव और कोल्हापुर में ही लगभग सात लाख जैन है। इसके बाद सांगली, ठाणा, नासिक, जलगांव, शोलापुर, नागपुर, पूना आदि शहरों का नाम आता है। महाराष्ट्र इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रदेश कहा जा सकता है जहां जैन संस्कृति आज भी सर्वाधिक पुष्पित–फलित दिखाई दे रही है। अभी इसका पृथक्–पृथक् क्षेत्र में मूल्यांकन शेष है। साहित्य, कला, संस्कृति आदि विविध दृष्टियों से इस तथ्य पर विचार किया जाना अपेक्षित है।

कर्नाटक

दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रचार–प्रसार में ई. पू. चतुर्थ शती के अन्तिम चरण के आसपास श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के आगमन से तेजी अधिक जागरूकता आई। श्रीलंका में तो जैनधर्म इसके पूर्व था ही। संभवतः भद्रबाहु संघ का प्रवेश कर्नाटक में कदाचित् उत्तर भारत के मालवा क्षेत्र से हुआ होगा। कर्नाटक से ही फिर जैनधर्म तमिल क्षेत्र में पहुंचा होगा। श्रवणबेलगोला के शिलालेखों से इस परम्परा की पुष्टि होती है। चालुक्य, राष्ट्रकूट, गंग आदि वंशों ने जैनधर्म का राज्याश्रय और उसका अच्छा प्रचार–प्रसार किया। सारा प्रदेश जैनमय–सा हो गया। यहां की कुरुम्बर जाति मूलतः जैन थी जो सारे दक्षिण में फैली थी। मद्रास के पास पुलाल में उसका प्रथम शती ई.पू. का आदिनाथ का एक भव्य मन्दिर है। ऐसे और भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। चामुण्डराय, इरगप्पन तथा हुल्लर जैसे अमात्यों और राजाओं ने कर्नाटक में जैन पुरातत्त्व को काफी समृद्ध कर दिया है।

ऐहोल (बीजापुर) में मेगुटिनामक जिनालय में सुरक्षित यह शिलालेख शक सं. 561 (ई. 634) का है जिसे कवि रविकीर्ति ने बड़ी प्रांजल संस्कृत भाषा में कन्नड लिपि में लिखा। इसमें चालुक्यवंश की कीर्ति का वर्णन करने वाला यह एक सुन्दर काव्य है। इसके अतिरिक्त मरोल (1024 ई.) अरसिबिदि में प्राप्त आलेख भी महत्त्वपूर्ण है जहाँ अक्कादेवी, जयसिंह द्वितीय की बहिन ने जैनधर्म का अच्छा प्रचार–प्रसार किया। इसके अतिरिक्त होनवाड व हुंगुण्ड जैन संस्कृति के गढ़ थे।

बेलगांव क्षेत्र को प्राचीन काल में कुण्डी या कुहुन्डी मण्डल कहा जाता था जो शिलाहार ओर रट्ट परिवारों के अधिकार में था। कोन्नुर हलसी (खानपुर) और सौन्दत्ती जैन संस्कृति के अच्छे केन्द्र थे। आर्हत पूजा के लिए गोक्का प्लेट देज्जा महाराज के दान का उल्लेख करता है, । यहां के किले में जैन पुरातत्त्व दर्शनीय हैं। यहां 108 जैन मन्दिर रहे हैं। यहां की कमल वसदि भी दर्शनीय है।

उत्तर कन्नडजिले में 15 से 17 वीं शती तक का जैन पुरातत्त्व मिलता है। इस दिशा में दक्षिण कन्नड जिला तो और भी अधिक समृद्ध है। बेल्लरी जिले में एक गुफा जैन मन्दिर है जिसमें बहुत सारी जैन मूर्तियां रखी हुई हैं। यहां कोगाली जैन शिलालेख (10 वीं शती) है और नन्दि बेवरु मन्नेरार मसलेलाद कुदतनी आदि स्थान ऐसे हैं जो जैन संस्कृति के केन्द्र माने जाते हैं।

वस्तुतः कर्नाटक का चप्पा चप्पा जैन संस्कृति का परिचय देता है। यहां सभी स्थानों के पुरातत्त्व के विषय में लिखना संभव नहीं है पर कतिपय महत्त्वपूर्ण स्थलों का उल्लेख करना अत्यावश्यक है। उदाहरणतः बीदर जिले का मलखेड राष्ट्रकूट राजाओं का प्राचीन मान्यखेट नगर है जो अमोघवर्ष के समय जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। लगभग 200 वर्षों तक यह नगर जैन संस्कृति का केन्द्र बना रहा है जहां सोमदेव, पुष्पदन्त जैसे मूर्धन्य आचार्यों ने साहित्य सृजन किया। यहां नेमिनाथ वसदि नाम का लगभग 9 वीं शताब्दी का एक जैन मन्दिर भी है।

बीजापुर का विशाल जैन मन्दिर 15 वीं शताब्दी में मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। यहां पार्श्वनाथ मन्दिर कुछ समय पहले जमीन से निकाला गया है। यहां की करामुद्दीन मस्जिद भी मूलतः जैन मन्दिर ही रहा है। इसी जिले में ऐहोल एक गांव है जो किसी समय चालुक्यों की राजधानी रहा है। यहां के मेगुटी मन्दिर ई. सन् 634 का जैनाचार्य रविकीर्ति द्वारा लिखा एक शिलालेख है जो पुलकेशी द्वितीय के सन्दर्भ में है । अकलंक इन्हीं रविकीर्ति के शिष्य थे। बादामी का मेगणबसदि और लक्कुडि का ब्रह्म जिनालय और

पट्टदकल का जैन वसदि कला की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण जैन मन्दिर हैं जहां मध्यकालीन गुफायें और मन्दिर हैं।

रायचूर जिले में हम्पी का गानीगिति मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। हम्पी के महल क्षेत्र के आसपास खुदाई की गई थी जिससे दो जैन मन्दिर प्रकाश में आये हैं। वैसे यहां काफी मन्दिर हैं। परंतु पान–सुपारी जैन मन्दिर में एक संस्कृत शिलालेख मिला है जिसके अनुसार देवराज द्वितीय ने सं. 1426 में पार्श्वनाथ चैत्यालय बनवाया था। बल्लारी जिले में हरपनहल्ली के होसवसदि में कलात्मक नाग प्रतीक दर्शनीय हैं। यहां का उज्जिम जैन मन्दिर शैवों के अधिकार में है। हुबली का अनन्तवसदि मन्दिर अत्यंत कलात्मक है जहां दशवीं शती की धरणेन्द्र पद्मावती के साथ तीर्थंकर पार्श्वनाथ की सुन्दर प्रतिमा कला सुरक्षित है।

महाराष्ट्र में हेमाडपंथी शैली का प्रचलन अधिक हुआ । यह शैली मूलतः उत्तर भारतीय शिखर शैली का परिष्कृत रूप है । इस शैली के जैन गुफा मंदिर नासिक जिले की विगलवाडी और चंदोर नामक स्थान पर मिलते हैं । ये गुफायें चतुष्कोणीय स्तम्भों पर आधारित हैं । महाराष्ट्र में ही वाशिम के समीप सिरपुर में स्थित अंतरिक्ष पार्श्वनाथ मंदिर उल्लेखनीय है जो लगभग 13 वीं शताब्दी का बना हुआ है । इसकी विन्यास रेखा तारकाकार है और पत्रावली युक्त पट्टियों का अलंकरण है । यह मंदिर दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रतीत होता है ।

इस प्रकार महाराष्ट्र प्रदेश के प्राचीन इतिहास, साहित्य और पुरातत्त्व और परम्परा से यह तथ्य रेखांकित हो जाता है कि यहां जैनधर्म और संस्कृति तीर्थंकर ऋषभदेव के काल से ही प्रचलित रही है । उपलब्ध प्रमाणों को परम्परा से अनुस्यूत किये बिना इतिहास अधूरा रह जाता है । इतिहास और पुरातत्त्व की अपनी सीमा है पर परम्परा उस सीमा को लांघकर चलती है । इसलिए परम्परा को इतिहास से पृथक् नहीं किया जा सकता है ।

मराठी जैन साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में अभी शोध की बहुत गुंजायश है । मराठी भाषा और साहित्य के विकास में जैनाचार्यों का क्या

योगदान रहा है ? पारस्परिक आदान–प्रदान किस किस क्षेत्र में हुआ है ? इस पर चिन्तन किया जाना चाहिए । मराठी भाषा के विकास में प्राकृत और अपभ्रंश का बहुत योगदान है । इस तथ्य को भाषावैज्ञानिक स्वीकार करते ही हैं । पर अभी तक कोई अच्छा शोधकार्य हमारे सामने नहीं आया। साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाना अपेक्षित है । मराठी सन्तों पर जैनधर्म का प्रभाव निश्चित ही दृष्टव्य है । जैनधर्म की पृष्ठभूमि में उनपर विचार किया जाना चाहिये । जैनधर्म ने अहिंसा और अनेकान्त की जो व्यापकता सौंपी है, मानवीय संवेदना, सर्वोदयशीलता और सामुदायिक चेतना के जो प्रभृत स्वर हमें दिये हैं वही चेतना महानुभाव, वारकरी आदि पन्थों की दार्शनिकता की आधारशिला रही है । जातिवाद का उच्छेद, अस्पृश्यता का विरोध, पुरोहितवाद की अस्वीकृति, आत्मस्वतन्त्रता की स्थापना, आत्मविकास के निर्बन्ध समान अवसर देने की तार्किकता, जीवदया, पर्यावरण सन्तुलन, सभी धर्मों के बीच समन्वय की स्थापना, भ्रातृत्ववाद आदि जैसे तत्त्व जैनदर्शन के आधार हैं जिन्हें इन सम्प्रदायों में खोजे जा सकते हैं ।

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य को हिन्दी साहित्य का तो स्वर्ण युग माना ही जाता है, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के साहित्य में भी भक्ति की प्रचण्ड धारा प्रवाहित हुई है । इसलिए इनमें पारस्परिक आदान–प्रदान होना भी स्वाभाविक रहा है । सगुण और निर्गुण परम्परा को एक बार हम एक ओर करके भी विचार करें तो इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि सन्त परम्परा मानवीय उच्च एवं आदर्श मूल्यों पर टिकी हुई थी । उसका दर्शन, धर्म, सामाजिक आचरण और सांस्कृतिक जीवन प्रणाली मानवीय धरातल पर समन्वित साधना लिए चलती रही । इसलिए उस पर जैनधर्म जैसे विशुद्ध अध्यात्मवादी एवं मानवतावादी दर्शन और साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है ।

भाषिक, आध्यात्मिक और सामाजिक क्रान्ति करना मध्यकालीन मराठी सन्तों की विशेषता रही है । ज्ञानेश्वर (12–13 वीं शताब्दी) को आद्य मराठी सन्त कहा जाता है । उनके दोनों ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव में जैनधर्म

के सारे सिद्धान्त भरे हुए हैं । इसी तरह एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि मराठी सन्तों पर भी जैनधर्म का विलक्षण प्रभाव दिखाई देता है । मराठी सन्तों के अधिकांश सन्त वारकरी पन्थ के रहे हैं जिनका देवता पंढरी का विट्ठल है । यह विट्ठल की मूर्ति मूलतः जैन मूर्ति थी जो विट्ठल के रूप में पूजित हो रही है । ज्ञानेश्वर नाथपन्थी होते हुए भी वारकरी पन्थ के प्रतिष्ठापक रहे हैं। उनकी भक्ति में निर्गुण और सगुण का भेद दिखाई नहीं देता । इन सन्तों पर योगीन्दु और मुनि रामसिंह जैसे मध्यकालीन जैन सन्तों का प्रभाव सहजता से देखा जा सकता है । मेरे निर्देशन में 'मराठी सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव' विषय पर पी.एच.डी. शोधप्रबन्ध लिखा गया है । इसी तरह "मराठी सन्तों पर जैनधर्म का प्रभाव" विषय पर भी शोधकार्य अपेक्षित है ।